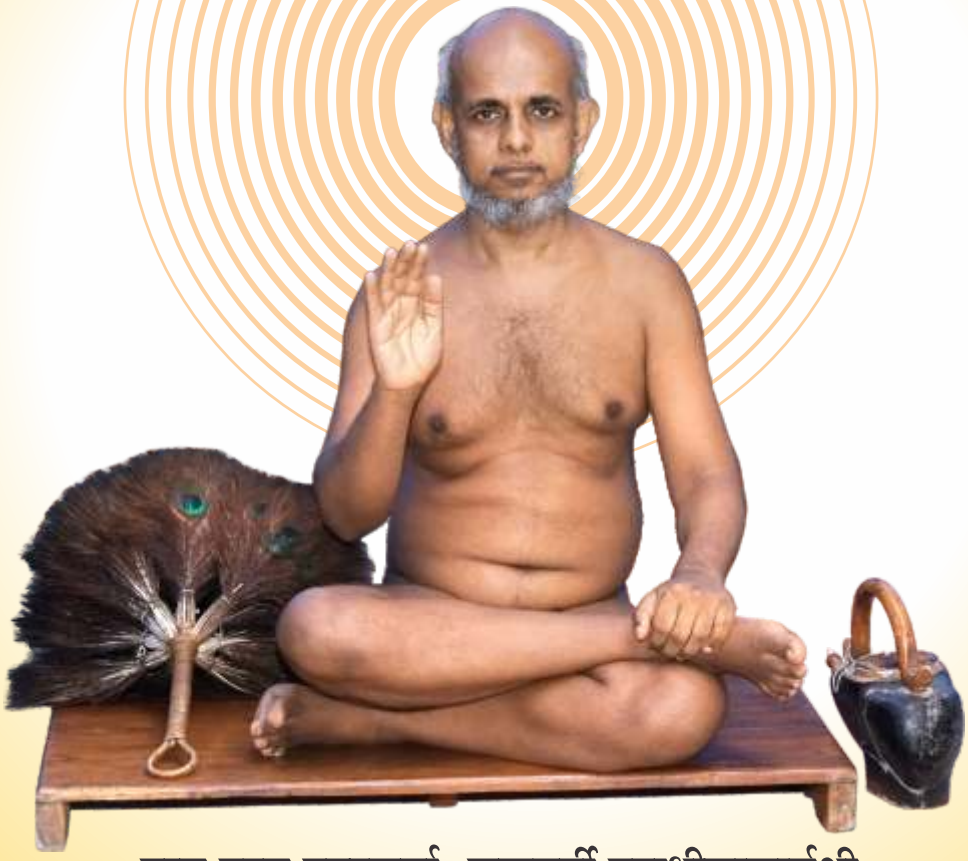

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

सागारधर्मसोपान

लेखक
डॉक्टर श्रेयांसकुमार जैन

प्रकाशक : श्रुतप्रभावना ट्रस्ट

(परम्परानायक)

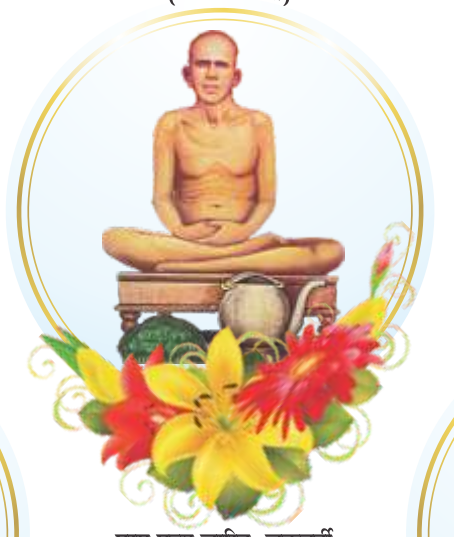

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

सागारधर्म-सोपान

डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

अध्यक्ष, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि-परिषद्

प्रकाशक

श्रुतप्रभावना ट्रस्ट (रजि.) बड़ौत, बागपत (उ.प्र)

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि-परिषद्

सागारधर्म-सोपान

लेखक–सम्पादक
डॉ॰ श्रेयांसकुमार जैन

प्राप्ति स्थान
डॉ श्रेयांसकुमार जैन
अध्यक्ष अ॰ भा॰ दि॰ जैन शास्त्रि-परिषद्
मंडी आनंदगंज, बड़ौत-250611, जिला बागपत (उ.प्र.)

तृतीय संस्करण 2019 (500)
मूल्य - 50/- रुपये

अर्थ सहयोग
श्री सतीशचन्द जैन ध.प. श्रीमती हृदेश जैन
श्री अजय जैन श्रीमती डिम्पल जैन, संयम जैन
एफ-4/8ए, कृष्णानगर, दिल्ली-110051

प्रकाशक
श्रुतप्रभावना ट्रस्ट (रजि.)
अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि-परिषद्

मुद्रक
अरिहंत ग्रॉफिक्स, दिल्ली
मो. 9958819046

प्रकाशकीय

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि-परिषद् के माध्यम से दिगम्बर जैनधर्म और आर्षमार्ग के प्रचार के लिए शताधिक पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। इस संस्था का मूल उद्देश्य जिनागम को विकृतियों से बचाना है। विगत कुछ वर्षों से जैन साहित्य में मनमाने ढंग से परिवर्तन परिवर्धन करके सोनगढ़ मतावलम्बियों ने प्रकाशन कराये हैं। समाज उनको पढ़कर दिग्भ्रमित न हो, इसलिए शास्त्रि-परिषद् ने दिगम्बर जैन आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों के आधार पर आधुनिक शैली में रचित-पुस्तकों को प्रकाशित कराकर समाज के हाथों में सोंपा है।

श्रावकधर्म के प्रतिपादन हेतु जैनाचार्यों ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है, वे ग्रन्थ विषय सामग्री की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं और विस्तार से लिखे गये हैं। उनका आकार विशाल है। उन्हे पढ़ना प्रत्येक श्रावक के लिए बहुत कठिन है, अतः श्रावकों द्वारा उनका स्वाध्याय नहीं होता है और वे श्रावकाचार को वास्तविक रूप में नहीं समझ पाते हैं श्रावकों को संक्षिप्त में श्रावकाचार के परिज्ञान हेतु डॉ॰ श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत ने 'सागारधर्म-सोपान' नामक कृति तैयार की है। इसमें इन्होंने श्रावक द्वारा पालनीय नित्य-नैमित्तिक व्रतों का आगमानुकूल वर्णन किया है। यह पुस्तक व्रती श्रावक श्राविकाओं के लिए अत्यन्त उपयोगी होगी। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का वर्णन के बाद सम्यक्चारित्र का प्रतिपादन करते हुए विशेष रूप से श्रावक के बारह व्रतों का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन इस पुस्तक में किया गया है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार का आश्रय लेकर अन्य श्रावकाचारों को भी दृष्टि में रखकर व्रत और नियमों का संक्षिप्त और सरल प्ररूपण अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है।

आशा है कि प्रस्तुत कृति श्रावक श्राविकाओं के लिए श्रावक-धर्म के ज्ञान हेतु अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। इसीलिए इसका पुनर्प्रकाशन कराया जा रहा है।

मैं डॉ॰ श्रेयांसकुमार जैन का विशेष आभार मानता हूँ कि वह इस प्रकार के लेखन और सम्पादन करते हुए जिनवाणी की सेवा कर रहे हैं।

ब्र. जयकुमार जैन 'निशान्त'

महामंत्री-अ॰भा॰दि॰ जैन शास्त्रि-परिषद्

दो शब्द

सद्गार्हस्थ्य को सप्तपरमस्थानों में प्रथम स्थान प्राप्त है। मोक्षमार्ग का प्रारम्भ यहीं से होता है। लोक-व्यवहार में जो भी वस्त्रधारी हैं, घर में रहते हैं और कुटुम्ब पालन में सन्नद्ध हैं वे सभी गृहस्थ कहलाते हैं किन्तु 'सद् गृहस्थ' संज्ञा उनकी है, जो संयमित-मर्यादित जीवन जीते हैं। आगम ग्रन्थों में मुनिधर्म और श्रावकधर्म इन दो रूपों में धर्म का विवेचन मिलता है। आचार्यों ने पहले तो मुनि बनने पर जोर दिया है, किन्तु शक्ति की अल्पता या कर्मोदय से वैसा भाव न बनें, तो उन्होंने कहा है कि श्रावकधर्म का परिपालन अवश्य करना चाहिए।

पद्मपुराण में एक प्यारा सा प्रसंग आता है। एक बार द्युति नाम के मुनिराज अयोध्या पधारे। उनके उपदेश सुनकर भरत महाराज ने यह संकल्प व्यक्त किया कि राम के वनवास से लौटने पर वह दीक्षा ग्रहण कर लेंगे। इस पर द्युति मुनि ने कहा कि राम तो अनेक वर्षों बाद लौटेंगे। तब तक क्या यों ही जीवन ढ़ोते रहोगे? तब मुनिराज की प्रेरणा से भरत जी ने श्रावक के व्रत अंगीकार किए व्रत से ही मानव जीवन की शोभा है।

पूज्यपाद स्वामी ने भी कहां है–

अभीष्टफलमाप्नोति व्रतवान् परजन्मनि।
न व्रतादपरो बन्धुः नाव्रतादपरो रिपुः॥

व्रती पुरुष परलोक में इष्ट फल को प्राप्त करता है। व्रत से बढ़कर कोई दूसरा बन्धु नहीं है और अव्रत से अन्य कोई शत्रु नहीं है।

विद्यारसिक अध्यात्म और सिद्धान्त के अध्येता विद्वान् डॉ॰ श्रेयांसकुमार जैन ने इस पुस्तक में श्रावकधर्म का विवेचन प्रस्तुत किया है। आत्म विकास में रुचि रखने वाले गृहस्थों के लिए यह पुस्तक हितकर सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नहीं। डॉक्टर साहब की भाषा प्रवाहमय, सहज और सरल है। स्व कर्तव्यबोध के लिए यह पुस्तिका पाठकों के लिए प्रकाश-स्तम्भ की तरह है और इसका सर्वत्र स्वागत किया जायेगा, ऐसी आशा है। इस प्रशस्त लेखन के लिए डॉ॰ साहब साधुवाद के पात्र हैं।

104 नई बस्ती
फिरोजाबाद

प्रो. नरेन्द्रप्रकाश जैन
सम्पादक-जैन गजट

आदि-वचन

आज के विश्व को चारित्र की सबसे बड़ी आवश्यकता है। यदि विश्व ने सबसे अधिक किसी वस्तु को खोया है, तो चारित्र को खोया है। विश्व की दु:खद अवस्था का कारण चारित्रहीनता है।

श्रमण और श्रावक दोनों की अपेक्षा चारित्र का विभाग महाव्रत और अणुव्रत रूप में किया गया है। इन दो प्रकार के चारित्र में से प्रस्तुत पुस्तक **''सागारधर्म सोपान''** विशेषत: श्रावकों के बिकलचारित्र से संबद्ध है। वर्तमान में लोगों के गिरते हुए आचरण को देखकर **डा॰ श्रेयांसकुमार जैन** ने इस श्रावकाचार सम्बन्धी पुस्तक को परिश्रम के साथ तैयार किया है। लोगों का जीवन उज्ज्वल हो, उनमें सत्य, सात्विकता और सदाचार के प्रति सच्ची निष्ठा हो, संयम हो, नैतिकता हो, यह इस पुस्तक प्रकाशन का उद्देश्य है। भौतिकता की चरम सीमा पर पहुँचे हुए विपथगामी वर्तमान के मानवों द्वारा यदि किसी नय या पक्ष का आश्रय लेकर चारित्र को अनावश्यक बताया जाता है, तो यह कृत्य **'पतनोन्मुखानां पातनम्'** (गिरते हुए को धक्का देकर गिरा देना) ही कहलायेगा।

व्रत या चारित्र सम्यग्दर्शन पूर्वक होने पर मुक्ति का मार्ग बनता है। व्रतों के पीछे आत्मशुद्धि की भावना है। ऐहिक लाभ की व्यवस्था के लिए व्रतों का ग्रहण नहीं होना चाहिए। उनके ग्रहण से ऐहिक लाभ स्वत: सधता है, किन्तु उद्देश्य आत्मशोधन होना चाहिए।

मनुष्य जीवन व्रतों द्वारा तो शोभता है अन्यथा वह भग्न घटवत् व्यर्थ है। व्रतसहित जीवन सुरभित पुष्प है और व्रतरहित जीवन कागज के कुसुम सदृश है। पांचवी शताब्दी के महान् आचार्य श्री देवनन्दी अपरनाम पूज्यपाद कहते हैं–

वरं व्रतै: पदं देवं नाव्रतैर्वत नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेद: प्रतिपालयतो महान्॥1॥ (इष्टोपदेश)

अर्थ– व्रतों का पालन कर स्वर्ग का पद प्राप्त करना उचित है, अव्रतों से नरक का पद उचित नहीं है। उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि तीन मित्र कहीं पर पद यात्रा कर रहे थे, गन्तव्य स्थान सुदूर देश था। मार्ग में एक नगर में जाने की इच्छा एक मित्र को हुई, अन्य दो मित्रों ने कहा हम यहीं तुम्हारी प्रतीक्षा करते हैं, तुम शीघ्र ही नगर में जाकर लौट आओ। वह चला गया अब

दोनों मित्र प्रतीक्षा कर रहे हैं, किन्तु उनमें से एक वट वृक्ष की शीतल छाया में आराम से बैठकर प्रतीक्षा करता है और दूसरा सूर्य की तपन में खड़े रहकर प्रतीक्षा करता है। प्रतीक्षा दोनों कर रहे हैं, किन्तु दोनों की स्थिति में महान् अन्तर है। ठीक इसी प्रकार हम भव्य मनुष्यों की पद यात्रा चल रही है, गन्तव्य स्थान हमारा निश्चित ही सिद्धालय है, जो कि दूरवर्ती देश में है। (मनुष्य लोक से सात राजू प्रमाण ऊपर) मार्ग में कहीं रुकना है या प्रतीक्षा करना है। अर्थात् वर्तमान में उतनी मंजिल पार करने की क्षमता नहीं है तो प्रतीक्षा में ठहर जायेंगे किन्तु ऐसे स्थान पर जहाँ आताप सन्ताप न हो। मोक्ष प्राप्ति जब तक नहीं होती तब तक व्रतों द्वारा अभ्युदय सुखों का स्थान देना और मनुष्य गति में रहना ही श्रेष्ठ है।

व्रताचरण मानव के लिए श्रेयस्कर है। श्रावक के द्वारा बारह व्रत यावज्जीवन के लिए ग्रहण किये जाते हैं और रत्नत्रय, जिनगुणसम्पत्ति आदि व्रत उपवासों की गणना परक हुआ करते हैं। इस पुस्तक में श्रावकों के बोध हेतु, रत्नत्रय का वर्णन करते हुए नित्य-नैमित्तिक व्रतों को समझाया गया है।

व्रतों का विशेष वर्णन महिला वर्ग को दृष्टि में रखकर किया गया है। वास्तव में वर्तमान में ही क्या प्राचीन काल से ही स्त्री वर्ग व्रत उपवास दीक्षा आदि में तत्पर रहता चला आया है। तीर्थंकर भगवान् महावीर के समवशरण में यदि एक लाख श्रावकों की संख्या थी, तो श्राविकाएँ तीन लाख प्रमाण थीं।

दिगम्बर जैन समाज दिगम्बर मुनियों की वैयावृत्ति, दिगम्बर जैन ग्रन्थों का प्रकाशन, तीर्थ सुरक्षा, आदि सप्त क्षेत्रों में दान देने में हमेशा अग्रसर रहती है, अतः यह सुगति की भावना हो, यही हमारा **आशीर्वाद है।**

डॉ. श्रेयांसकुमार जैन ने इस पुस्तक का लेखन/सम्पादन किया है। उनको हमारा आशीर्वाद है, इनके द्वारा युवावर्ग को सदाचरण, व्रताचरण, ध र्मरक्षा आदि की प्रेरणा मिलती है, क्योंकि यह नियम है कि समान वयस्क समान वयस्कों को आकृष्ट करता है। पुनश्च इनके कंधों पर तो शास्त्रि-परिषद् का भार है, जो परिषद् प्राचीन जैन सिद्धांत को अक्षुण्ण बनाये रखने में सतत जागरूक रहती है।

इत्यलं विस्तरेण। शुभमस्तु।

आर्यिका जिनमती

प्रस्तावना

वर्तमान में कुछ उपदेशक श्रावकों के मध्य प्रायः आत्मानुभव और सम्यग्दर्शन की कथनी करते हैं। श्रावकों के लिए यह बोध नहीं हो पाता है कि हमें क्या करना चाहिये? जिससे हम पापास्त्रव से बचकर पुण्य का अर्जन कर सकें। गृहस्थावस्था में तो शुभास्त्रव के सिवाय कोई भी उत्तम उपाय नहीं है, क्योंकि इनके शुद्धात्मानुभव या शुद्धोपयोग का होना संभव नहीं है।

मनुष्य भव की सफलता पूर्णसंयम में है किन्तु जिन जीवों की सामर्थ्य सकलसंयम को ग्रहण करने की नहीं है; उनके लिए परमकृपालु जिनेन्द्र भगवान् की वाणी को अवधारण करने वाले दिगम्बर मुनियों और आचार्यों ने एक देशसंयम का उपदेश दिया है।

मन्दकषायी भद्रपरिणामी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य गुणों से समलंकृत सम्यग्दृष्टि श्रावक के लिए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों का पालन अपने जीवन में प्रतिक्षण आवश्यक है। व्रताचरण पूर्वक जो श्रावक अपने सम्पूर्ण जीवन को व्यतीत करता है, वह नियम से पाप प्रवृत्ति से बचकर पुण्यार्जन को करता है। पुण्यशाली जीव ही अपनी भुज्यमान आयु के अन्तिम काल में समाधिमरण को धारण कर अपने मनुष्यभाव को सफल करता है।

गृहस्थ जीवन में नाना प्रकार के उतार चढ़ाव आते रहते हैं, जिससे आत्मचिन्तन या ध्यान की एकाग्रता संभव नहीं है। गृहस्थ को वह मार्ग चाहिये, जिससे वह न्यायोचित रीति से परिवार का पालन करते हुए धर्माराध न कर सके। वह तो अपनी पात्रता के अनुरूप सम्यग्दर्शन के स्वरूप और अपने करणीय कर्तव्यों के विषय में जानकारी चाहता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए मैंने रत्नत्रय का वर्णन करते हुए नित्य-नैमित्तिक व्रतों का चित्रण किया है।

नैमित्तिक व्रतों में रत्नत्रय, दशलक्षण षोडशकारण, आष्टाह्निका, रोहिणीव्रत रविव्रत, जिनगुणसम्पत्ति, अनन्तव्रत आदि प्रमुख व्रतों की विधि, कथा, उद्यापन विधि और सामग्री व्रत-विधान के ग्रन्थों से संकलित की गयी है।

हाँ प्रत्येक विषय को सरल सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है, किन्तु आगम की मर्यादा का पूरा ध्यान रखा है। अन्त में आधुनिकयुग में नवयुवकों-युवतियों को व्रतों का स्वरूप और महत्त्व का परिज्ञान सरलरीति से हो जावे और वे व्रताचरण पूर्वक अपने जीवन को मंगलमय बनावे, इसी भावना के साथ–

शुभेच्छुः

डॉ॰ श्रेयांसकुमार जैन

अध्यक्ष-अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि-परिषद्

ॐ वीतरागाय नमः ॐ

सागारधर्म-सोपान

अनादि अनन्त अकृत्रिम जगत् का प्रत्येक प्राणी सुख और शान्ति चाहता है। सुख और शान्ति का एक मात्र उपाय धर्म है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है–**''संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे''** जो प्राणियों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में पहुँचाता है, वह धर्म है। अथवा **''यस्मादभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्म''** अर्थात् जिससे प्राणियों के अभ्युदय (लौकिक सुख) तथा निःश्रेयस (लोकोत्तर अतीन्द्रियसुख) की सिद्धि हो, वह धर्म है। धर्म ही मंगलमय है, धर्म नाम स्वभाव का है। स्वभाव में पहुँचने के लिये जिन उपायों या साधनों की अनिवार्यता होती है, जैनाचार्य उन्हें भी कारण-कार्य की अभेददृष्टि से धर्म कहते हैं–

धम्मो वत्थुसहावो, खमादि-भावो य दस-विहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो।।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा।।478।।

वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। दस प्रकार के क्षमा आदि भावों को धर्म कहते हैं, रत्नत्रय को धर्म कहते हैं और जीवों की रक्षा करने को धर्म कहते हैं।

उक्त धर्म लक्षणों में रत्नत्रय को प्रधानता दी है, आचार्य उमास्वामी ने भी कहा है–सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष प्राप्ति के उपाय[1] हैं। इनका परिज्ञान श्रावक और श्रमण दोनों के लिए अत्यावश्यक है। प्रकृत में श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया जा रहा है, अतएव श्रावकों के बोध हेतु रत्नत्रय का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है।

सम्यग्दर्शन

संसारी जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के कारण अपने स्वरूप को न जानकर चारों गतियों में भटकता फिरता है। जब किसी भव्य जीव को पाँच लब्धियाँ प्राप्त होती हैं, तब वह सम्यक्त्वरूपी रत्न को प्राप्त करता है।

1. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः तत्त्वार्थसूत्र 1/1,

(1) क्षयोपशमलब्धि–ज्ञानावरण आदि कर्मों की शक्ति का प्रति समय अनन्तगुणी हीन होती हुई उदय में आना क्षयोपशमलब्धि है।

(2) विशुद्धिलब्धि–प्रथम लब्धि के कारण सातावेदनीय शुभ नाम, उच्चगोत्र इत्यादि रूप पुण्यप्रकृतियों के बन्धन योग्य जो जीव के परिणाम हैं उन परिणामों का होना विशुद्धिलब्धि है।

(3) देशनालब्धि–छह द्रव्य, सात तत्त्व आदि के उपदेशक गुरु का मिलना, उपदिष्ट तत्त्वों का चिन्तन, धारण, मनन होना देशनालब्धि है।

(4) प्रायोग्यलब्धि–ज्ञानावरण आदि कर्मों की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसे विशुद्ध परिणामों द्वारा घटा-घटा के केवल अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थापित करना तथा पाषाण, अस्थि, दारू और लतारूप चार प्रकार की, जो अनुभागशक्तियाँ हैं उन्हें घटा कर द्वितीय स्थानीय-दारू और लतारूप स्थापित करना प्रायोग्यलब्धि है।

(5) करणलब्धि–अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामों की प्राप्ति होना करणलब्धि है।

प्रथम चार लब्धियाँ भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों को प्राप्त होती हैं किन्तु करणलब्धि भव्य जीव को ही प्राप्त होती है और उसके होने पर नियम से सम्यग्दर्शन का लाभ हो जाता है।

इस अमूल्य सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए जीव का बुद्धि पूर्वक पुरुषार्थ कषायों की मन्दता के लिए होना चाहिए, तथा तत्त्वों का अभ्यास होना चाहिए, इससे सम्यक्त्व की भूमिका बनती है। यह सम्यक्त्व चारों गतियों में प्राप्त होता है। जिस मनुष्य को सम्यक्त्व प्राप्त होगा, शुभ लेश्या में ही होगा। कहा भी है–

चदुगदि भव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेसो सलद्धिगो सम्ममुवगमई।।

गो॰ जीव॰ 651

अर्थ–चारों गति वाला भव्य जीव संज्ञी, पर्याप्तक, विशुद्ध भाव वाला, साकार उपयोगी, जागृत, शुभ लेश्या युक्त और करणलब्धि वाला सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

करणलब्धि द्वारा दर्शनमोह की मिथ्यात्व आदि प्रकृतियाँ और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन कर्मप्रकृतियों का उपशम होकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट होता है। सम्यक्त्व के उपशम, क्षयोपशम और क्षय अन्तरंग कारण हैं। बहिरंग कारण तो जातिस्मरण, धर्मोपदेश, जिनेन्द्रदर्शन आदि कहे गए हैं।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप–सच्चे देव, शास्त्र एवं गुरु के प्रति दृढ़ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। जैसा कि कुन्दकुन्द स्वामी ने मोक्षपाहुड की 90वीं गाथा में कहा है कि हिंसा रहित धर्म में, अठारह दोष रहित देव में और निर्ग्रन्थ गुरु के प्रवचन में श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। नियमसार में भी कहा है–आप्त, आगम और तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। अठारह दोष रहित एवं केवलज्ञानादि गुणों से मंडित आप्त होते हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है–

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढ़ापोढ़मष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मम्।। रत्न.श्रा. 3

परमार्थ स्वरूप देव शास्त्र गुरु का तीन मूढ़ता रहित आठ मद रहित और आठ अंग सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अभिप्राय यह है कि जब आत्मा में दर्शनमोह उदय में नहीं रहता तब सच्चे देव शास्त्र गुरु में अटूट श्रद्धा भक्ति जागृत होती है। जिनोपदिष्ट जीवादि सात तत्त्वों में प्रगाढ़ रुचि पैदा होती है। अपने आपकी अर्थात् अपने आत्मा की प्रतीति होती है, भेदविज्ञान–शरीर से मेरा आत्मा भिन्न स्वभाव वाला है ऐसा दृढ़ विश्वास जागृत होता है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और अस्तिकाय भाव प्रगट हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन नियम से निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचित्किसा, अमृढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ अंग युक्त होना चाहिए। अंग हीन सम्यक्त्व संसार का विच्छेद करने में समर्थ नहीं होता है।

सम्यग्दर्शन में मलिनता पैदा करने वाले पच्चीस दोष हैं। ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद, बलमद, ऋद्धिमद, रूपमद, तपमद, लोकमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, देवमूढ़ता, छह अनायतन, एवं आठ अंग के विपरीत शंका कांक्षा आदि आठ दोष, इन सब दोषों से रहित सम्यक्त्व मुक्ति महल में पहुँचाने वाला है।

सम्यग्दर्शन के भेद–सराग और वीतराग, निश्चय और व्यवहार, निसर्गज और अधिगमज, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक इस प्रकार विविध दृष्टियों से सम्यग्दर्शन के भेद आगम में वर्णित हैं।

सरागसम्यक्त्व–प्रशम, संवेग आदि गुणों द्वारा जो अभिव्यक्त होता है अथवा जिसका स्वामी सराग है वह सरागसम्यक्त्व है।

वीतरागसम्यक्त्व–आत्मविशुद्धि रूप अथवा जिसका स्वामी वीतराग है वह वीतरागसम्यक्त्व है।

निश्चयसम्यक्त्व–सम्पूर्ण परद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा की प्रतीति-रुचि निश्चयसम्यक्त्व है।

व्यवहारसम्यक्त्व–तत्वार्थ श्रद्धानरूप व्यवहारसम्यक्त्व है।

निसर्गजसम्यक्त्व–परोपदेश के बिना होने वाला निसर्गजसम्यक्त्व है।

अधिगमजसम्यक्त्व–परोपदेशपूर्वक होने वाला अधिगमजसम्यक्त्व है।

उपशमसम्यक्त्व–मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये दर्शनमोह की तीन प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी की चार कर्मप्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम से उपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है। यह सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से है। अनादि मिथ्यादृष्टि के एक मिथ्यात्वप्रकृति और चार अनन्तानुबन्धी के उपशम से उपशमसम्यक्त्व होता है।

क्षयोपशमसम्यक्त्व–मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी चार कषाय इन छह प्रकृतियों के उदयाभावीक्षय एवं सदवस्थारूप उपशम होने से तथा सम्यक्त्वप्रकृति के उदय होने से क्षयोपशमसम्यक्त्व प्रकट होता है।

क्षायिकसम्यक्त्व–मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी चार कषाय इन सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षय होने से क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व–सम्यग्दर्शन के होते ही पञ्च परावर्तन स्वरूप अनन्त संसार का अभाव होकर केवल अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र संसार शेष रहता है। यही इसका सर्वाधिक माहात्म्य है।

मुक्तिरूपी प्रासाद का प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन है, इससे समलंकृत भव्यात्मा ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त कर सकता है जैसा कि दर्शनप्राभृत में कहा है–

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं॥5॥

सम्यक्त्व से रहित मनुष्य भले प्रकार से कठोर तपश्चरण करें तो भी हजार करोड़ वर्षों में भी उन्हें बोधि का लाभ नहीं होता।

मोक्षप्राभृत में विशेष रूप से कहा है–

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीणपुरिसो ण लहइ तं इच्छियं लाहं॥39॥

जो दर्शन से शुद्ध है, वही शुद्ध है, सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य ही मोक्ष प्राप्त करता है। जो सम्यक्त्व से रहित है उसे इच्छित लाभ नहीं होता। दर्शनप्राभृत की चौथी गाथा में कहा गया है कि जो सम्यक्त्वरत्न से विरहित है, वे अनेक शास्त्रों को जानते हुए भी चार प्रकार की आराधना से रहित होने के कारण कुगतियों में भ्रमण करते हैं। रयणसार में भी कहा है–सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियम से नहीं होते हैं, इसलिए रत्नत्रय के बीच सम्यक्त्व प्रधान है। ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है। मोक्षमार्ग में यह सम्यक्त्व कर्णधार के स्थानीय है, जैसे समूह से पार होने में नाविक की मुख्यता है, वैसे ही संसार समुद्र से पार कराने के लिए सम्यक्त्व की मुख्यता है।

सम्यग्दर्शन से बड़ी अन्य कोई सम्पदा नहीं, उसे प्राप्त कर लेने से सब कुछ पा लिया जाता है और उसके खो देने से सब कुछ खो दिया जाता है। सम्यग्दर्शन आत्मा की अन्तर्निहित शक्ति है। जो विषय वासना, काम क्रोध के कारण आच्छादित है। विषय वासनाओं के उन्मूलन से वह अद्भुत शक्ति प्रभावित होती है, जिससे जीवन की समस्त दिशाएँ जगमग-जगमग हो जाती हैं।

सम्यग्ज्ञान

ज्ञान तो प्रत्येक जीव में होता है, जब तक जीव मिथ्यात्व के वशीभूत रहता है, तब तक उसका ज्ञान अज्ञान की कोटि में गिना जाता है किन्तु जब जीव अनादि मिथ्यात्व का अभाव करके सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है, तब उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान की परिभाषा देते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डकश्रावकाचार में कहा है–

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निस्सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः।।42।।

जो ज्ञान न्यूनता से रहित है, जिसमें अधिकता भी नही है अर्थात् वस्तु स्वरूप का पूर्ण प्रकाशक होने से अन्यून है और अन्य व्यर्थ के कथन से रहित है–अतिरिक्तता से दूर है, विपरीतता के बिना यथार्थ प्रकाशक है, वही सम्यग्ज्ञान है ऐसा समीचीन तत्त्व सम्बन्धी सम्यग्ज्ञान ही रत्नत्रय का द्वितीय अवयव है। इसके अनेक भेद हैं।

सम्यक्चारित्र

सम्यग्दर्शनरूपी रत्नाभूषण से अलंकृत मानव का आचरण सम्यक्चारित्र है। सम्यक्चारित्र सकलचारित्र और देशचारित्र के भेद की अपेक्षा दो प्रकार का होता है। सकलचारित्र के धारी श्रमण (दिगम्बर मुनि) होते हैं। देशचारित्र (एकदेशसंयम) के पालन करने वाले श्रावक होते हैं।

जिनागम की साधना पद्धति में श्रावक और श्रमण दोनों को साधना का अधिकारी स्वीकार किया है। साक्षात् साधक की भूमिका को श्रमण अपनाते हैं, जो श्रमण के नियम और कर्तव्यों के पालन करने में अक्षम होता है, वह पूर्वाभ्यासदशा में श्रावक के नियम और कर्तव्यों का पालन करता है।

नियमों और कर्तव्यों की मर्यादा में मर्यादित होकर चलने वाले श्रावक की आचारमीमांसा का प्रतिपादन ही हमारा प्रतिपाद्य विषय है।

जीवन को नियंत्रित करने वाला श्रावक या गृहस्थ सप्त व्यसन का परित्याग, अष्टमूलगुणों का पालन तथा जैनधर्म के आराधक के चिह्न रात्रिभोजन का परित्याग, पानी छानकर पीना, प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव का दर्शन करना, इन नियमों का पालन करता हुआ राग द्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र की शरण में जाता है। जैसा कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने प्रतिपादन किया है–

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादावाप्तसंज्ञानः
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।। रत्न. 3/1

मोहान्धकार का अपहरण होने पर सम्यग्दर्शन के द्वारा सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने वाला भद्र जीव राग द्वेष की निवृत्ति के लिए चरण (चारित्र) की शरण में जाता है।

श्रावक का एकदेशसंयम या विकलचारित्र सम्यग्दर्शन से विभूषित होने के पश्चात् बारह व्रत (पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत) ग्रहण करने पर होता है। एकदेशचारित्र या संयम का अभ्यास सकलचारित्र की प्राप्ति में भी सहायक होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को धारण करने वाले पुरुष या स्त्री के द्वारा बारह व्रतों का आचरण करना, उसके कल्याण को करने वाला है।

यहाँ इतना विशेष है कि यदि सम्यक्त्वरूपी रत्न से प्रकाशित नहीं हुआ, तब भी व्रतों का पालन तो प्रत्येक अवस्था में हितकारी ही होता है, सम्यक्त्व के अभाव में जिनधर्मानुकूल वाह्याचरणरूप व्रत–नियम का यथायोग्य पालन भी कुगतियों से बचाता है, कषाय मन्द पड़ती है, और सम्यग्दर्शन की भूमिका बनती है। अतः जीवन में सदाचार पर हमेशा दृष्टि रखना चाहिए। सदाचार का निर्माण केवल शिक्षा से ही नहीं होता, अपितु सामाजिक परिस्थिति और पारिपार्श्विक वातावरण से भी होता है, जो जिस वातावरण में पलता है, उसकी छाप उसके मानस पर अंकित होती है और उसी से उसका आचरण बनता है।

देशव्रतरूपी पञ्चमगुणस्थानवर्ती चारित्र तो सम्यग्दर्शन के अनन्तर ही होता है। इसके प्राप्त होने पर तो नियम से देवायु का वन्ध होता है। यदि कोई जीव देव आयु के बिना अन्य तीन–नरक तिर्यंच या मनुष्य की आयु बांध चुका है या उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्त होने पर भी पञ्चम गुणस्थान की प्राप्ति संभव नहीं है। जिस मनुष्य या तिर्यंच जीव को आयु बन्ध नहीं हुआ और वह सम्यग्दृष्टि हो गया तो उसके भी नियम से देवायु का ही बंध होता है किन्तु वद्धायुष्कसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा कर्मभूमिज सम्यग्दृष्टि जीव चारों गतियों में जा सकता है। व्रतों की यह विशेषता है कि वह नियम से देवगति को ही प्राप्त कराता है। व्रत धारण करने से पुण्यकर्म का आस्रव होता है। अव्रत सेवन से पापकर्म का आस्रव होता है। आचार्यों ने व्रती जीवन को ही श्रेयस्कर माना है। व्रतों को ग्रहण करने वाला ही व्रती है। व्रती का जीवन ही मंगलमय होता है।

व्रत की परिभाषा–सबसे पहले यह विचार करना है कि व्रत क्या है? स्वच्छंदवृत्ति में अभ्यस्त यह जीव पञ्चेन्द्रियों के विषयों में अनियंत्रित रूप

से प्रवृत्ति करता है। उस अनियंत्रित जीवन के प्रभाव से भूल जाता है, कि मैं कौन हूँ? मेरा कर्तव्य क्या है? उस स्वच्छंद आवेग को नियंत्रित करने वाली प्रवृत्ति ही व्रत कहलाती है।

आचार्य पूज्यपाद व्रत का नियम रूप में प्रतिपादन करते हैं कि **''व्रतमभिसंधिः कृतो नियमः, इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा''** अभिप्राय पूर्वक अथवा संकल्पूर्वक किया गया नियम व्रत कहलाता है। अथवा यह मेरे लिए कर्तव्य है, यह मेरे लिए अकर्तव्य है। इस प्रकार के विवेक को व्रत कहते हैं। सूत्र प्रणेता आचार्य उमास्वामी ने जिनवचन का आश्रय लेकर कहा है–**हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिव्रतम्,** अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरति का नाम व्रत है।

व्रत पालन का उद्देश्य–यह जीव सदा अशुभ भावों से प्रेरित होकर संसार संबर्द्धन की प्रवृत्ति करता रहा है। उससे नाना प्रकार के संक्लेश परिणामों के वशीभूत होकर वह आत्मपतन करता है, ऐसी स्थिति में उसे अशुभप्रवृत्ति से निवृत्त कर शुभप्रवृत्ति में प्रवृत्त कराना आवश्यक है। यह उद्देश्य इन व्रतों के पालन से पूर्ण होता है। व्रतों के आचरण से यह जीव सदा शुभमार्ग में प्रवृत्त होता है। यद्यपि उसका परमध्येय शुद्धोपयोग की प्राप्ति है फिर भी जब तक अशुभ से शुभ की ओर प्रवृत्त नहीं होता है, तब तक शुद्धोपयोग का लाभ सुतरां असंभव है। अतः शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिए क्रियात्मक चारित्र का पालन आवश्यक है। बाह्य और अभ्यंतर क्रियाओं के पालन से रागद्वेषादि की निवृत्ति से आत्मा जब स्वोन्मुखी हो जाता है, तभी उसे शुद्धोपयोग की प्राप्ति होती है। उसे प्राप्त करना ही इन व्रतों का प्रमुख उद्देश्य है। उसे दृष्टिपथ में रखकर ही व्रताचारण करना चाहिए।

व्रतों के भेद-प्रभेद–मूलतः व्रतों को दो भेदों में विभक्त कर सकते हैं। एक अणुव्रत और दूसरा महाव्रत। गृहस्थाश्रम में पालनीय व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। मुनि अवस्था में धारण करने वाले व्रत महाव्रत कहलाते हैं।

गृहस्थ हिंसादिक का पूर्ण त्यागी नहीं हो सकता है, अतएव वह एकदेशव्रतों का पालन करने वाला होता है। एकदेशव्रती, अहिंसाणुव्रत सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत परिग्रहपरिमाणव्रत का भली प्रकार से पालन करता है।

अहिंसाणुव्रत

संकल्पपूर्वक सब जीवों की हिंसा का परित्याग करना अहिंसाणुव्रत कहलाता है। गृहस्थ जीवन में चार प्रकार से हिंसा हो सकती है। (1) संकल्पी हिंसा (2) विरोधी हिंसा (3) आरम्भी हिंसा (4) उद्योगी हिंसा।

संकल्पपूर्वक अर्थात् मैं इस प्राणी का वध करूँगा, ऐसा संकल्प कर जीव हिंसा करना संकल्पी हिंसा कहलाती है। अपने प्रति, धर्म के प्रति साधर्मी बन्धु या भगिनिओं के प्रति अहंकारी पुरुष के द्वारा आक्रमण करने पर उसका प्रतीकार करना विरोधी हिंसा है। गृहस्थ किसी के प्रति आक्रमण न करे। दूसरे के द्वारा किए आक्रमण का प्रतीकार अवश्य करे, जो समरभूमि में स्वार्थवश आकर हमें ललकारता है। शत्रु बनकर शस्त्र को हाथ में लिए हुए है, अपने राष्ट्र का जो द्रोही है उस पर अवश्य शस्त्र और अस्त्र प्रहार करे, किन्तु दीन-हीन और सज्जनों के प्रति उसका प्रयोग न करे।

यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्यात्, यः कंटको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति, न दीनकानीन शुभाशयेषु॥

यशस्तिलकचम्पू, पृ. 86

इसका आशय ऊपर आया ही है। इसलिए विरोधी हिंसा गृहस्थाश्रम में त्याज्य नहीं है। जैन क्षत्रिय राजाओं ने प्रसंग आने पर युद्ध किया है। अपना क्षात्रतेज व्यक्त किया है, इसके उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं।

इसी प्रकार तीसरी आरम्भी हिंसा का भी गृहस्थ त्यागी नहीं होता है, क्योंकि गृहस्थ को अपने निर्वाह के लिए कृषि आदि आरम्भ करना पड़ता है। सो कृषि आदि आरम्भ करते समय हिंसा होना सम्भव है, उसका त्याग वह नहीं कर सकता है।

चौथी हिंसा उद्योगी है, व्यापार उद्योगादि करते समय गृह कृत्यादि करते समय होने वाली हिंसा अपरिहार्य है। इसलिए गृहस्थ इसका त्यागी नहीं होता है। केवल संकल्पपूर्वक वह त्रस जीवों की हिंसा से निवृत्त होता है, अतः स्थूल हिंसा का त्याग होने से अहिंसा-अणुव्रती कहलाता है।

अहिंसा व्रत की भावनाएँ—अहिंसा व्रत की दृढ़ता के लिए एवं निर्मलता के लिए कुछ भावनाओं का भावन करना चाहिए, जिससे व्रत में विशुद्धि होती है।

मन, वचन और काय रूपी गुप्ति का पालन करना इसमें आवश्यक है। क्योंकि मन, वचन, काय की स्वच्छंद प्रवृत्ति से ही इस आत्मा की हिंसादि में प्रवृत्ति होती है। इसलिए अहिंसकवृत्ति को धारण करने के लिए आवश्यक है कि वह मन, वचन और काय से सर्व प्रकार के जीवों की रक्षा करे। किसी पदार्थ को रखते हुए, उठाते हुए उपलक्षण से किसी बन्धु के साथ व्यवहार करते समय इस बात का अवश्य विचार करे, कि मेरे द्वारा किसी जीव को पीड़ा तो नहीं पहुँच रही है। सावधानी पूर्वक व्यवहार करे। इसी प्रकार आलोकित पान भोजन अर्थात् सूर्य प्रकाश में अच्छी तरह देखभाल कर वह आहार ग्रहण करे। इससे रात्रि भोजन का निषेध किया गया है। रात्रि के समय बहुत तेज प्रकाश होने पर भी बहुत जीवों का संचार होने से वह हिंसा से बच नहीं सकता है, अनेक त्रस जीवों का घात होकर अन्नादि शस्य पदार्थों में उनका घात होने से रात्रि भोजन करने वाला मांस भक्षण से बच नहीं सकता है। दिन में बनाकर रखे हुए पदार्थों का रात्रि भक्षण करना अयोग्य है।

रात्रिभोजन में अनेक हिंसक जन्तुओं का पेट में जाने से जलोदर, वमन, क्षय, केन्सर आदि नाना प्रकार के रोग होते हैं। अनेक प्रसंगों में रात्रिभुक्ति करने वाले मृत्यु मुख में पड़ते हुए देखे गए हैं, इसलिए अहिंसा की रक्षा के लिए रात्रिभोजन का त्याग करना आवश्यक है। इन भावनाओं से अहिंसाव्रत में निर्मलता आती है।

अहिंसा की विशेषता व विचित्रता–प्रमाद के योग से प्राणियों का प्राण व्यपरोपण करना हिंसा कहलाती है। इसके त्याग का नाम अहिंसा है। प्रमत्तयोगात् इसके लक्षण में महत्त्व का पद है। रागद्वेषादि विकार और अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति से यदि इतर-प्राणियों का घात होता है तो वह हिंसा है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कभी-कभी हिंसा के होने पर भी वह (साधु) अहिंसक रह सकता है। कभी-कभी हिंसा के न होने पर भी वह हिंसक हो सकता है। इस प्रकार की विचित्रता है।

मरदु जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसा मित्तेण समिदस्स॥

प्रवचनसार गाथा 217

---

1. वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च। तत्त्वार्थसूत्र 7/4

जीव मरे या जीवे, अयत्नाचारी के हिंसा निश्चित है। यत्नाचारी के हिंसामात्र से बन्ध नहीं है।

जीव मरे या न मरे, इसमें हिंसा व अहिंसा की व्याख्या निर्भर नहीं है। जीव मरे या न मरे परन्तु वह अयत्नाचार पूर्वक प्रमादवृत्ति से आचरण करता हो तो उसे हिंसा का दोष ही लगता है। यदि अप्रमादवृत्ति से चलता हो तो उससे जीव का घात होने पर भी हिंसा के पाप का बंध नहीं होता है। यहाँ पर भावों या परिणामों को विशेष महत्त्व दिया गया है। प्रत्यक्ष हिंसा करना ही हिंसा नहीं है, अपितु हिंसा का परिणाम होना भी हिंसा ही है। परिणामों में कलुषता लाना यह आत्महिंसा है। वह पहले होती है। बाद में इतरों की हिंसा हो या न हो वह महत्त्व की नहीं है। इसी प्रकार परिणाम में विशुद्धि है, जीव बहुत प्रयत्न हिंसा से बचने के लिए करता है तो कभी हिंसा उससे हो भी गई, तो भी उस निमित्त से उसे बन्ध नहीं होता है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिहिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

बहुत थोड़े शब्दों में जैनागम की अहिंसा व हिंसा की व्याख्या की जाय तो हम कह सकते हैं कि आत्मा में रागद्वेषादि विकार भावों का उत्पन्न नहीं होना, यह अहिंसा है, और आत्मा में उस राग द्वेषादि संक्लेश परिणामों की उत्पत्ति होना यही हिंसा है। इससे हिंसा के लक्षण में प्रमत्तयोग जो पद आया है, उसकी दृष्टि का स्पष्टीकरण हो जावेगा।

अहिंसा ही शिव पद को देती है, यही स्वर्ग की लक्ष्मी को देती है और यही अहिंसा आत्मा की हितकारी है तथा समस्त व्यसनों और कष्टों को दूर करती है यह अकेली भगवती अहिंसा प्राणियों को जो सौख्य कल्याण और मुक्ति प्रदान करती है उसे तप और शील संयमादि का समुदाय भी नहीं दे सकता क्योंकि तप श्रुत शील संयम आदि सभी धर्म के अंगों की आधार एकमात्र अहिंसा[1] है।

---

1. उद्धृत जैन धर्मामृत 430, 33

अहिंसाणुव्रत के अतीचार–अहिंसाणुव्रत को निर्दोष रूप से पालन करने के लिए उसके पाँच अतीचारों से बचने की आवश्यकता है अतीचारों का अर्थ व्रत की भंगाभंगवृत्ति है, अर्थात् किसी अंश में व्रत भंग और किसी अंश में अभंग, इसका नाम अतीचार है।

आचार्य श्री समन्तभद्र ने इन अतीचारों का इस प्रकार उल्लेख किया है–

छेदनबन्धनपीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद् व्युपरतः पञ्च॥

रत्नकरण्डश्रावकाचार 54

अर्थात् प्राणियों के कान आदि अवयवों का छेदन करना, प्राणियों को बांध कर रखना, उनको ताड़नकर पीड़ा देना, शक्ति से अधिक भार लादना, एवं समय पर आहारादिक न देना यह पाँच अहिंसाणुव्रत के अतीचार हैं। इन पाँच अतीचारों में हिंसा होने के कारण किसी अंश में व्रत का भंग होता है, परन्तु व्रत की विराधना करने की भावना उसमें नहीं है। इसीलिए व्रत का अभंग भी है सो इनको अतीचार की संज्ञा दी गई है।

व्रत जीवों को पुण्य फल प्रदान करते हैं किन्तु अतीचार सहित व्रत पुण्यजनक नहीं होते हैं जैसे धान यदि नींदीं गोढ़ी न जावे तो कभी भी पैदा नहीं होती है।[1]

व्रतों को निरतिचार रूप पालन करने में ही महत्त्व है। अतीचारों में व्रत को भंग कर अनाचार करने की भावना व्रत पालने वाले के हृदय में नहीं होती, तथापि गृहस्थ जीवन में रहते हुए इस प्रकार की प्रवृत्ति घटती है। उस सम्बन्ध में वह पश्चात्ताप भी करता है इसलिए उसे अनाचार संज्ञा नहीं दी जा सकती है। वह अनाचार नहीं है क्योंकि वह व्रत से भ्रष्ट नहीं होता है, वह निर्दोष व्रत भी नहीं है, क्योंकि उसमें अंश मात्र हिंसा की घटना होती है। इसलिए व्रत साधक को उचित है कि वह व्रतों को हमेशा निरतिचार पूर्वक ही पालने का प्रयत्न करे।

---

1. व्रतानि पुण्याय भवन्ति जन्तोर्न सातिचाराणि निषेवितानि।
सस्यानि किं क्वापि फलन्ति लोके मलोपलीढ़ानि कदाचनापि।।

इसी प्रकार अग्रिम व्रतों में भी पाँच-पाँच अतीचार कहे गए हैं।

सत्याणुव्रत

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदि।
यत्तद्वदन्ति सन्तः, स्थूलमृषावादवैरमणम्॥ रत्नकण्ड श्रा. 55

दूसरों का प्राण घात हो, प्राणिहिंसा हो, इस प्रकार के स्थूल असत्य को जो नहीं बोलता है, और दूसरों को उस प्रकार के प्राणिवधात्मक असत्य को बोलने की प्रेरणा नहीं देता है, एवम् धर्म संकट या प्राणघात होने के प्रसंग में सत्य बोलने का भी जो आग्रह नहीं करता है, उसे मुनिराज स्थूल झूठ वचन से विरक्ति होना कहते हैं।

लोक में सत्य व्यवहार का बड़ा महत्त्व है। सत्य व्यवहार करने वाले का सभी कोई विश्वास करते हैं। अनेक लोगों की ऐसी समझ हो गई है कि असत्य व्यवहार के बिना हमारे धन संपत्ति आदि की वृद्धि नहीं होती है, परन्तु जीवन का सर्वस्व धन संपत्ति ही नहीं है। जीवन में सद्गुणों का अस्तित्व होना चाहिए, उसके बिना वह जीवन उद्योत को प्राप्त नहीं होता है। इसलिए जीवन कल्याण के लिए सत्यव्रती अथवा सत्याणुव्रती होना आवश्यक है।

संसार के व्यवहार में असत्य बोलने के अनेक प्रसंग आते हैं। कभी-कभी वह जो बोलता है वह सत्यवत् प्रतीत होता है। पर पूर्ण असत्य रहता है। उसे सत्य का पुट दिया जाता है। कभी-कभी सत्य होने पर भी वह दूसरों के लिए हानिकारक सिद्ध होता है। इसलिए ग्रंथकारों ने असत्य के भेद करते हुए कन्यालीक, गोअलीक, क्षमालीक कूटसाक्ष्य, न्यासापलाप आदि भेदों का उपलक्षण से उल्लेख किया है।

कन्यालीक—किसी कन्या का विवाह किसी कुमार के साथ निश्चित हो गया हो, उस कन्या के सम्बन्ध में नाना प्रकार का सत्य असत्य अपवाद करना यह कन्यालीक है। इस उपलक्षण से अन्य भी द्विपद सम्बन्धी अपवाद निन्दा आदि करना भी कन्यालीक में गर्भित हैं।

गोअलीक—गाय की बिक्री करते समय व लेते समय दूध कम ज्यादा देती है आदि असत्य का उच्चारण करना गोअलीक है। यहाँ भी चतुष्पद

जीव उपलक्षण है। अन्य भी चतुष्पद सम्बन्धी अलीक का ग्रहण इसमें करना चाहिए।

क्षमालीक–क्षमा का अर्थ पृथ्वी है, खेती, जमींदारी, बाग-बगीचा आदि के क्रय-विक्रय में असत्य का उच्चारण करना क्षमालीक कहलाता है, उपर्युक्त तीनों प्रकार के असत्य व्यवहार में निंद्य माने जाते हैं। उनका परित्याग सत्याणुव्रती अवश्य करें।

कूटसाक्ष्य–धन के लोभ से अथवा ईर्ष्या द्वेषादिक भाव से खोटी साक्षी देना, कूटसाक्ष्य कहलाता है। पहले वर्णित असत्य से भिन्न प्रकार का असत्य है, क्योंकि खोटी साक्षी आदि से दूसरों के पाप का समर्थन होता है, अधर्म का पोषण होता है।

न्यासापलाप–सुरक्षित रहने की इच्छा से जो किसी के पास धरोहर रखी जाती है, उसको न्यास कहते हैं। अतएव दूसरे की धरोहर अर्थात् जेवर आदि संपत्ति का अपहार करना यह न्यासापलाप है, अज्ञान व संशय के कारण से भी असत्य नहीं बोलना चाहिए, रागद्वेषपूर्वक प्रयुक्त होने वाले उन पाँच प्रकार के असत्य का कथन सत्याणुव्रती कभी न करें।

सत्याणुव्रती श्रावक लोक व्यवहार के वशीभूत होकर सत्यसत्य, सत्यासत्य और असत्यसत्य इन तीन प्रकार के वचनों को बोल सकता है, परन्तु लोक व्यवहार के विरोधी असत्यासत्य वचन का उच्चारण कभी न करें।

सत्यसत्य–जो वस्तु जिस देश में, जिस काल में, जिस आकार प्रकार में व्यवस्थित है उसे उसी प्रकार कहना सत्यसत्य कहलाता है। यह प्रशस्त वचन है। अवश्य बोलना चाहिए।

सत्यासत्य–सत्याश्रित असत्य वचन को सत्यासत्य कहते हैं। उदाहरणार्थ हे जुलाह! आतान वितान से तन्तुओं को मिलाकर वस्त्र बनावो। हे पाचक! तुम भात पकाओ। इस प्रकार का वचन प्रयोग यद्यपि असत्य है, क्योंकि वस्त्र का रूप कार्य पूर्ण होने के बाद ही वस्त्र कहलाता है। चावल पूर्ण पकने के बाद ही भात कहलाता है, सो इसी समय वस्त्र और भात कहना आगामी रूप की अपेक्षा है, आगामी पर्याय उसी प्रकार होने वाली है यह सत्य है इसलिए

यह वर्तमान कथन सत्याश्रित असत्य है, लोकव्यवहार में विरोध न होने से ऐसे वचन को सत्याणुव्रती बोल सकता है।

असत्यसत्य—असत्याश्रित सत्य को असत्यसत्य कहते हैं। उदाहरणार्थ— किसी से यह कहकर ऋण पंद्रह दिन में दे दूँगा, दो महीने में देना, कथित काल का अतिक्रमण हुआ इसलिए असत्य है परन्तु उसने देने का वायदा किया था, सो दे दिया, इसलिए सत्य है, लोक व्यवहार में सत्याणुव्रती ऐसे असत्यसत्य ये बच नहीं सकता है, लोक व्यवहार के अधीन उपर्युक्त प्रकार के असत्यों को सत्याणुव्रती बोल सकता है।

असत्यासत्य—जो वस्तु अपनी नहीं है, अपने पास भी नहीं है। अपना स्वामित्व जिस पर नहीं है, ऐसी वस्तुओं के सम्बन्धी दूसरों को मैं कल दे दूँगा, इस प्रकार का वचन देना, यह लोक विरुद्ध वचन है, यह असत्यासत्य है, इसका कथन सत्य अणुव्रती को कभी नहीं करना चाहिए।

श्रावक को अपने दैनिक व्यवहार में विशेषता परपीड़ा रहित मृदुवचनों का प्रयोग करना चाहिए, जो संपूर्ण प्रकार से हिंसा को पोषण करने वाले वचनों के त्याग करने में असमर्थ है वह अपने भोगोपभोग में उपयोगी आने वाले सावद्य वचनों को बोल सकता है, अथवा उसे बोलना पड़ता है, परन्तु सत् का अपलपन करने वाले आदि प्राणी पीड़ाकारक असत्यों का वह उच्चारण न करे, वह सत्-अपलपनादि असत्य पाँच प्रकार के हैं।

सदपलपन, असद्-उद्भावन विपरीतवचन, अप्रियकथन एवं साक्रोशवचन इस प्रकार असत्य वचन पाँच प्रकार के हैं। इनका त्याग सत्याणुव्रती को अवश्य करना चाहिए।

सद्-अपलपन—आत्मा नहीं है, मोक्ष नहीं है, पुण्य-पाप नहीं है, इस प्रकार सद् का लोप करने वाला वचन सद् अपलपन है।

असद्-उद्भावन—आत्मा जो स्वदेह प्रमाण है उसे व्यापक, सर्वगत, इत्यादि मानना अथवा जिसका जो स्वरूप नहीं है, उस बात को प्रतिपादन करने वाला वचन असद् उद्भावन है।

विपरीतवचन—गाय को घोड़ा कहना, विपरीतवचन है।

अप्रियवचन—काने को चिढ़ाने के लिए काना कहना, अन्धे को अरे अन्धे इत्यादि कहना अप्रियवचन है।

साक्रोशवचन–अरे दासी पुत्र! हे कुट्टिनी के बेटे! क्यों बक-बक कर रहा है। तुम्हारा सत्यानाश कर दूँगा, खबरदार इत्यादि क्रोध से चिल्लाकर वचन बोलना साक्रोशवचन कहलाते हैं।

जैसे अहिंसाणुव्रत में त्रस हिंसा का त्याग करना आवश्यक है, उसी प्रकार अप्रयोजनीभूत स्थावरहिंसा का त्याग करना भी अहिंसाणुव्रती के लिए आवश्यक है, तथा उसी प्रकार भोगोपभोग के निमित्त सर्वसावद्य वचनों को त्याग करने में असमर्थ सत्याणुव्रती श्रावक को प्राणिपीड़ा कारक वचनों का परित्याग तो करना ही चाहिए, साथ में अप्रयोजनीभूत इतर वचनों का भी त्याग करना चाहिए, हिंसा पुष्टिकारक वचन सत्य होने पर भी असत्य है, उपर्युक्त सदपलपन आदि वचन हिंसा के पोषक होने से हिंसा रूप हैं, हिंसा के समान उनका भी त्याग अवश्य करना चाहिए, जहाँ प्रमत्तयोग नहीं है, वे वचन हिंसा के पोषक न होने से असत्यवचन नहीं हैं। गुरु आदि को प्रसन्न करने के लिए स्तुतिरूप में जो बोली जाती है वह वाणी असत्य होने पर भी अप्रमादवृत्ति होने से असत्य नहीं है। इसी प्रकार धर्मसंकट के समय में सत्य भी न बोलकर मौनधारण करना श्रेष्ठ है। अथवा किसी प्राणी की हिंसा होती हो ऐसे समय में उसे बचाने के लिए अन्य वचन का प्रयोग करें, तो भी दोष दायक नहीं है। उदाहरण के लिए एक जंगल में एक भद्र पुरुष बैठा हुआ है, वह शिकारी अपने शिकार का पीछा करते हुए आया, उसके लिए अभीष्ट शिकार उस मार्ग से भाग गया था, शिकारी की आँखों से ओझल होने के कारण वह देख नहीं सका था, इसलिए उस भद्र पुरुष से आकर पूछता है कि हे भद्र! आपने मेरा शिकार देखा है, वह किस ओर भाग गया है। कहियेगा। तब वह सत्यभाषी कहेगा कि मैंने नहीं देखा अथवा उलटी दिशा बतायेगा शिकारी को। इसलिए ऐसे वचन सत्याश्रित असत्य होने पर भी अप्रमादवृत्ति के द्योतक होने से निर्दोष हैं। क्षम्य हैं, वचन के उच्चारण में भी विवेक का रक्षण होना चाहिए।

सत्याणुव्रत की पाँच भावनाएँ–

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणञ्च पञ्च॥

तत्त्वार्थसूत्र 7/5

क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचिभाषण ये पाँच सत्यव्रत की भावनाएँ हैं।

यह मानव क्रोध से झूठ बोलता है, कभी लोभ से झूठ बोलता है। कभी भय से झूठ बोलता है, ये कारण न मिले तो कभी हंसी विनोद के लिए झूठ बोलता है। इसलिए इन क्रोधादिक असत्य कारणों का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करना चाहिए, एवं सदा आगमानुसार निर्दोष वचन को बोलना चाहिए। अथवा इस प्रकार के वचनों का आश्रय मेरे द्वारा हो, ऐसी सतत चेष्टा उसकी रहनी चाहिए, तभी वह सत्य वचन को बोलने में अभ्यस्त हो सकता हैं

सत्याणुव्रत के पाँच अतीचार

परिवादरहोभ्याख्या-पैशून्यं कूटलेखकरणञ्च।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य॥56॥

रत्नकण्डकश्रावकाचार

अर्थात्-परिवाद, रहोभ्याख्या, पैशून्य, कूटलेखकरण और न्यासापहार ये पाँच सत्याणुव्रत के अतीचार हैं।

परिवाद—उन्नति और कल्याण की क्रियाओं में कुछ का कुछ कहना परिवाद है, इसी को अन्य आचार्यों ने मिथ्योपदेश[1] शब्द से व्यवहृत किया है।

अज्ञान व प्रमाद से मोक्षादि की साधनभूत क्रियाओं में अन्यथा प्रवर्तन करने का उपदेश देना सन्मार्ग में संशय आने पर कोई आकार वस्तुस्थिति की पृच्छना करे, तो अज्ञान से अन्यथा कह देना मिथ्योपदेश है, जानबूझकर तत्त्व का बोध करने वाले अन्यथा वचन का कहना तो असत्य-अनाचार है, उसे सत्यव्रती कर नहीं सकता है।

रहोभ्याख्या—एकान्त में स्त्री पुरुषादि के द्वारा होने वाली चेष्टाओं को हास्य विनोदादि से प्रकट करना, रागवर्द्धक होने के कारण अतीचार है, अभिनिवेष वश, किसी प्रकार के हठाग्रह से एवं रागादि के आवेश से प्रतिपादन करें, तो वह अतीचार नहीं है, प्रमाद योग होने के कारण अनाचार ही है।

पैशून्य अथवा साकारमंत्रभेद—अंग का विकार, भौं चलाना आदि से

1. मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमंत्र भेदाः। तत्त्वार्थसूत्र 7/26

दूसरे का अभिप्राय आदि प्रकट करना पैशून्य है, पर निन्दा भी पैशून्य है। अथवा विश्वास पात्र मित्रादिक के साथ किये हुए गुप्त विचार को प्रकट करना, साकारमंत्रभेद कहलाता है।

कूटलेखकरण–खोटे कागज पत्र आदि तैयार करना, नोट आदि बनाना, दूसरों के मुहर अक्षर आदि बनाकर दूसरों को ठगना आदि कूटलेख क्रिया है, यह भी त्याज्य है।

न्यासापहार–किसी ने अपने पास धरोहर रखा, और कुछ दिन बाद आया, ठीक प्रमाण की उसे विस्मृति हुई, उसने कम बताया तो झटपट कह देना कि ठीक है, मैं देता हूँ, ले जाइए, यह कहकर अवशिष्ट भाग का अपहरण करना न्यासापहार है। पूर्ण अंश का अपहरण करना तो अनाचार है।

ये पाँच अतीचार व्रतभंग-अभंगवृत्ति की अपेक्षा उपलक्षण से कहे गए हैं। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इन अतीचारों को कुछ परिवर्तन के साथ प्रतिपादन किया है शब्दों में कुछ अन्तर होने पर भी अर्थ-भावार्थ में विशेष अन्तर नहीं है।

अथवा ये अतीचार उपलक्षण से कहे गए हैं, इसी प्रकार के सत्यव्रत को एक देश से भंग करने वाले अन्य वचन या प्रवृत्तियाँ भी सत्यव्रत के अतीचार हैं, ऐसा समझना चाहिए।

सत्याणुव्रती को इन सब बातों को सावधानीपूर्वक विचार कर सत्य को जीवन में उतारना चाहिए।

अचौर्याणुव्रत

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न चादत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम्॥

रत्नकरण्डकश्रावकाचार 56

रखे हुए, गिरे हुए या भूले हुए पराये धन को बिना दिये जो न तो स्वयं लेता है और न उठाकर दूसरे को देता है, उसे स्थूल चोरी से विरक्त होना अर्थात् अचौर्याणुव्रत कहते हैं।

दूसरों के द्रव्य का अपहरण करना, यह एक प्रकार से हिंसा है, क्योंकि

जिसके द्रव्य का अपहरण होता है उसकी आत्मा में पीड़ा होती है। इसलिए हिंसा से बचने के लिए भी अचौर्यव्रत का आचरण करना चाहिए।

चोरी करने के कारण मनुष्य दिन में, रात में सोते समय और जागते समय शरीर में चुभी शल्य के समान कहीं भी और कभी भी स्वस्थता तथा शान्ति को नहीं प्राप्त होता है।

चोरी करने से उस जीव को संताप तो होता ही है। स्वयं में भी आकुलता बढ़ती है, लोक में यह चोर है, धर्मघातक है, जीव का वध करने वाला है। इत्यादि प्रकार से प्रसिद्धि होकर उसे लोग तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। दूसरे के द्रव्य का तो अपहरण नहीं करना चाहिए, स्वतः का भी जिस द्रव्य के प्रति अधिकार है, उसके स्वामी के सम्बन्धी यह विचार करना कि यह जल्दी से मर जाय तो अच्छा है, मैं जल्दी मालिक बन जाऊँगा, यह विचार भी प्रशस्त नहीं है, क्योंकि मानव को प्राण के समान धन भी इष्ट व मिष्ट है। ऐसी स्थिति में दूसरों के प्राण व धन का अपहरण करने की भावना करना अप्रशस्त है, यहाँ भी प्रमाद योग पद का अनुकरण करना चाहिए, सर्वसाधारण के उपभोग के लिए निश्चित नदी, कूप, जल, मिट्टी फलादि का उपभोग व्रती करा सकता है। वहाँ पर प्रमाद योग नहीं है, रोगद्वेषादिक प्रमाद के वशीभूत होकर तृणमात्र परकीय वस्तु को ग्रहण करने वाला भी चोर कहलाता है, वह चोर ही है।

बहुत से लोग जमीन आदि से निकला हुआ धन उसका कोई स्वामी नहीं है, वह परधन नहीं है, उसे लेने से कोई आपत्ति नहीं है, ऐसा समझते हैं, परंतु अचौर्याणुव्रती ऐसे धन को भी नहीं ले सकता है, नदी, गुफा, जमीन आदि से निकले हुए स्वामी रहित धन का सर्वसाधारण स्वामी राजा होता है।

किसी पदार्थ में यह सन्देह पैदा हो जाय कि यह मेरा द्रव्य है या नहीं, ऐसे पदार्थ को भी अचौर्याणुव्रती ग्रहण न करें। जब तक कि वह संशय दूर न हो जाय, सारांश यह है कि चौर्यवृत्ति से स्वयं में एवं दूसरे में संक्लेश, क्षोभ आदिक पीड़ा परिणामों की वृद्धि होती है। इसलिए उसका त्याग कर अचौर्याणुव्रत का पालन करना चाहिए।

जिन शुद्ध हृदय वाले पुरुष को पराये धन के ग्रहण करने का नियम (त्याग) होता है, उनके पास स्वयं वरण करने वाली नाना प्रकार की

सम्पदाएँ स्वयं सम्मुख आती हैं।

जो पुरुष निर्मल अचौर्यव्रत धारक हैं, उनके पास से अनर्थ दूर रहते हैं, संसार में उनका साधुवाद फैलता है और स्वर्गों के सुख उनको प्राप्त होते हैं।

अभागीपना, दासपना, सेवकपना, अंगच्छेद और दरिद्रता ये सब चोरी करने के फल हैं ऐसा जानकर स्थूल चोरी का त्याग करना चाहिए।

अचौर्यव्रत की पाँच भावनाएँ

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च॥

तत्त्वार्थसूत्र 7/6

शून्य अर्थात् सूने, जहाँ कोई नहीं रहते हैं ऐसे गिरि, गुफा, वृक्ष कोटरादि में वास करना, किसी के छोड़े हुए घर में निवास करना अर्थात् कोई घर छोड़कर चला गया है, वहाँ पर अब बहुत दिनों से कोई नहीं रहता है, तो ऐसे घर में रहना अचौर्यव्रती साधुओं के लिए निषिद्ध नहीं है, यहाँ पर विमोचितावास पद का एक दूसरा भी अर्थ है, छोड़े हुए घर में रहना जैसा विमोचितावास है, उसी प्रकार छुड़ाये हुए घर में रहना भी विमोचितावास है। साधुसन्त अपने यहाँ आया है, उतरने के लिए जगह चाहिए, ऐसी अवस्था में पाठशाला, धर्मशाला आदि के स्थान को खाली कराकर वहाँ पर साधुओं का निवास करना भी विमोचितावास है। इसी प्रकार पर परोपरोधाकरण अर्थात् दूसरों का किसी प्रकार उपरोध नहीं करना, यह मेरी पुस्तक है, तुम हाथ मत लगाओ, यह मेरा स्थान है यहाँ तुम मत बैठो, आदि कहकर दूसरों को रोकना दोष है, वह न करना अचौर्यव्रती के लिए भावना है। भैक्ष्यशुद्धि-आहार में विशुद्धि यह भी एक भावना है, आहार में शुद्धि का पालन न करते हुए त्यक्तवस्तु का भी ग्रहण किया जाय, आहार शुद्धि का विचार नहीं किया जाय तो वह एक प्रकार से आत्मवञ्चना है, इसलिए अचौर्यव्रत की शुद्धि के लिए आहार में शुद्धि रखनी चाहिए, यह उपलक्षण है, अपने व्रत के पालन में सर्वत्र शुद्धि का विचार रखना चाहिए, सधर्माविसंवाद अर्थात् साधर्मी बंधुओं के साथ विसंवाद न करना यह भी अचौर्यव्रत की भावना है। बिना कारण रागद्वेष की प्रवृत्ति से ईर्ष्या द्वेष से किसी के साथ विवाद कलह संघर्ष करते रहना भी आत्मा को कलुषित करना है, इसलिए इसका भी त्याग करना चाहिए, इस प्रकार पाँच भावनाओं से निरत होने के कारण उस अचौर्यव्रत

में विशुद्धि आती है।

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतीचार–

चौरप्रयोग चौरहृतग्रहावधिकहीनमानतुलम्।
प्रतिरूपकव्यवहृतिं विरुद्ध-राज्येऽप्यतिक्रमं जह्यात्॥50॥

सागारधर्मामृत अ. 4

अचौर्याणुव्रत को निर्दोष रूप से पालन करने के लिए पाँच प्रकार के अतीचारों का त्याग करके व्रत की विशुद्धि करनी चाहिए।

चौरप्रयोग–मैं चोरी नहीं करूँगा, यह नियम तो उस व्रती को है, परन्तु स्वयं चोरी न करने पर भी दूसरों को तुम चोरी करो, तुम बहुत अच्छा करते हो इत्यादि प्रकार से प्रेरणा देकर चोरी का प्रयोग करता है, वह चौरप्रयोग नाम का अतीचार है।

चौरहृतादान–चोरी कर लाये हुए धन धान्यादिक को ग्रहण करना, खरीदना, चौरहृतादान कहलाता है, इसमें चोर को प्रेरणा भी नहीं करता है, अनुमति भी नहीं देता है, केवल चौर्य कर्म से लाये हुए पदार्थों को खरीदता है, यह भी दोष है।

अधिकहीनमानतुला–लेने का माप बड़ा देने का माप छोटा लेने का तराजू आदि बड़े तोल का और देने के छोटे तोल का इस प्रकार लेने देने के माप तोल में अंतर रखना हीनाधिकमानोन्मान कहलाता है। यह भी अचौर्यव्रती के लिए दूषण है।

प्रतिरूपकव्यवहृति–समान रूप में दिखने वाले पदार्थों में मिलावट करना, घी में तेल का मिश्रण करना, आटे में इतर तत्सदृश पदार्थों का मिश्रण करना, पीसी धनियाँ में घोड़े की लीद का मिश्रण करना, मक्खन में डालडे का मिश्रण आदि सर्व प्रतिरूपक व्यवहार कहलाता है, वह भी लोगों को ठगने की भावना से प्रेरित होकर किया जाता है अतः अचौर्यव्रत में दूषण है।

विरुद्धराज्यातिक्रम–राजा के राज्य पालनोचित कार्य को राज्य कहते हैं, राजा के राज्य का नष्ट होना अथवा शत्रु राजाओं के द्वारा उस राज्य के प्रति आक्रमण होना यह विरुद्धराज्य है। ऐसे विरुद्धराज्य व्यवस्था के समय अतिलोभ से अमुक वस्तु का संग्रह करूँगा तो बाजार भाव खूब बढ़ जायेगा

राज्य संकट में है, ऐसे अवसर से लाभ उठाना चाहिए इस प्रकार के विचार से भारी मूल्य के पदार्थ को अल्पमूल्य में खरीदना एवं उस पदार्थ का संग्रह कर उसका मूल्य बढ़ाना, लोगों के स्वतंत्र उपभोग में विघ्न डालना यह विरुद्धराज्यातिक्रम है।

अथवा परस्पर राजाओं की सन्धि से निश्चित सीमा का उल्लंघन करना, लोभ के वश उससे बाहर भी जाकर व्यवहार करना विरुद्धराज्यातिक्रम है। अथवा राज्य के द्वारा निश्चित नियमों का उल्लंघन करना, काला बाजारी करके शासन व जनसाधारण को कष्ट में डालना यह भी विरुद्धराज्यातिक्रम है।

इन सबसे व्रत में दूषण लगने के कारण एकदेशभंग भी है, और साथ में वह व्रती अपने अचौर्यव्रत में स्थिर रहना चाहता है। अतएव अभंग भी है, इसीलिए अतीचार कहलाता है।

इन अतीचारों का त्यागकर अचौर्याणुव्रत को निर्दोष पूर्वक पालन करना चाहिए, चाहे राजा हो किंवा प्रजा हो सबको यह दोष लागू होते हैं, शत्रु राजाओं के राजा के साथ मंत्री सेनापति आदि का संगठन होना यह भी विरुद्धराज्यातिक्रम है। इस प्रकार पाँच अतीचार अचौर्याणुव्रत के हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पाप-भीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि।।49।।

रत्नकरण्डश्रावकाचार

विवाहित स्त्री छोड़कर इतर समस्त स्त्रियाँ परस्त्री कहलाती हैं। अपनी स्त्री को छोड़कर पाप के भय से परस्त्रियों के प्रति स्वयं गमन नहीं करना, एवं दूसरों को गमन करने की प्रेरणा नहीं करना, परदारनिवृत्ति नामक ब्रह्मचर्याणुव्रत है इसे स्वदारसंतोष नामक अणुव्रत भी कहते हैं।

विवाहित स्त्री के साथ संभोग करना यह न्याय्य भोग है, इतर स्त्रियों के साथ भोग करना यह अन्याय्य भोग है, अन्याय्य भोग में आकुलता, संक्लेश, भय आदि होने से आत्मपरिणामों की हिंसा तो होती ही है, लोक में भी विद्वेष, कलह, संघर्ष आदि होने से नाना प्रकार के प्राणघातादि होते

हैं, इसलिए परस्त्रीगमन का त्याग ब्रह्मचर्याणुव्रती अवश्य करें।

परस्त्रियों में परगृहीता अपरिगृहीता आदि सब स्त्रियों का ग्रहण किया है, परिगृहीता का अर्थ विवाहित सौभाग्यवती अथवा विधवा अपरिगृहीता कुमारी कन्या इस प्रकार ये सर्व परस्त्रियों में गृहीत हैं।

इस व्रत को स्वदार संतोष व्रत भी कहते हैं। अपनी स्त्री में ही संतुष्ट और परस्त्रियों से उपेक्षित रहना, इसका अर्थ स्वदारसंतोषव्रत है। स्वभार्या में संतोष रखते हुए उसको भी हितमित प्रमाण में भोगना चाहिए, क्योंकि स्त्री संभोग संतापरूप है। अर्थात् इससे संताप उत्पन्न होता है, यह मानव स्त्री संभोग से ही हिताहित विवेक से रहित होता है, स्त्री संभोग से उसकी शक्ति क्षीण होती है, उससे तृष्णा बढ़ जाती है। यह दुःखरूप है। कामज्वर से पीड़ित व्यक्ति को सुख कैसे हो सकता है, भोग में पित्त का प्रकोप होता है, शरीर नष्ट होता है, ज्वर के सर्वलक्षण इस काम ज्वर में भी प्रकट होते हैं, जब स्वस्त्री को भोगना भी ज्वर के समान हानिकारक है, तो परस्त्री का संसर्ग तो महान् हानिकारक है ही ऐसा समझना चाहिए, परस्त्री के सेवन में बिलकुल सुख नहीं है।

जिन स्त्री पुरुषों में परस्पर समान रति हो, वहाँ पर परस्पर में की हुई आलिंगनादि क्रियाएँ सुखरूप होती हैं, संतोष पूर्वक निर्भयता से यह आलिंगनादि क्रिया स्वस्त्री में ही हो सकती हैं, स्वजन, परजन शंका से आकुलित चित्त होकर परस्त्री को सेवन करने वाले इतर स्वजनादि से भयभीत रहता है, समान रति न होने से, आकुलित चित्त होने से चुम्बनादि का भी सुख उन्हें नहीं मिल सकता है इसलिए परस्त्री सेवन में कोई सुख नहीं है।

स्वस्त्री के सेवन में भी रागद्वेषादि भाव तो उत्पन्न होते ही हैं। रागद्वेषादि भावों का उत्पन्न होना ही भावहिंसा है, उस भावहिंसा के साथ द्रव्यहिंसा भी होती है, स्त्री सेवन के समय योनि में उत्पन्न होने वाले असंख्यात पञ्चेन्द्रिय जीवों का घात होता है, जैनेतर ग्रंथों में भी योनिगत जीवों को मान्य किया है, वात्स्यायन ने योनि में जीव होते हैं, इस प्रकार उल्लेख किया है।

रक्तजा कृमयः सूक्ष्मा मृदुध्यादिशक्तयः,
जन्मवर्त्मसु कण्डूति जनयन्ति तथाविधम्॥

मृदु मध्यम शक्ति वाले रक्त से उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म जीव योनि स्थान में रहते हैं और वहाँ पर खुजलाहट उत्पन्न करते हैं जिससे कामवासना उत्पन्न होती है। इसलिए योनिसम्बन्धी असंख्य जीवों का घात होने से द्रव्यहिंसा होती है, स्वस्त्री का सेवन करने वाला मानव भी द्रव्यहिंसा का भागी होता है, तो परस्त्री सेवन करने वाला हिंसक क्यों नहीं होगा? उसके तो स्वदारसंतोषी की अपेक्षा अधिक कषायों का विशेष उद्रेक रहता है, अतः विशेष रूप से हिंसक है।

इसलिए जो मानव स्वस्त्री में ही संतुष्ट रहता है, स्वप्न में भी परस्त्री का विचार नहीं करता है उसका लोक में अद्‌भुत प्रभाव रहता है, इसी प्रकार जो स्त्री अपने पति में संतुष्ट रहती है, स्वप्न में भी परपुरुष का विचार नहीं करती है, उसकी महिमा भी अद्‌भुत है, ऐसी स्थिति में जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे सर्वलोक के द्वारा पूज्य होते हैं। रूप कला, ऐश्वर्ययुक्त रावण को सीता ने आँख उठाकर भी नहीं देखा? यह शीलव्रत की दृढ़ता है।

ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ–

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरण,
वृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च॥

तत्त्वार्थसूत्र 7/7

जिन कथाओं के सुनने और पढ़ने आदि से स्त्रीविषयक अनुराग जागृत हो, ऐसी कथाओं के सुनने और पढ़ने आदि का त्याग करना स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग है। स्त्रियों के मुख, आँख, कुच और कटि आदि सुन्दर अंगों को देखने से काम भाव जागृत होता है, इसलिए साधु को एक तो स्त्रियों के संपर्क से अपने को बचाना चाहिए, दूसरे यदि वे दर्शनादि को आवें तो नीचे दृष्टि रखने का अभ्यास करना चाहिए और इच्छापूर्वक उनको नहीं देना चाहिए, यह **तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणत्याग** है। गृहस्थ अवस्था में विविध प्रकार के भोग भोगे रहते हैं उनके स्मरण करने से कामवासना बढ़ती है, इसलिए उनका भूलकर भी स्मरण नहीं करना **पूर्वरतानुस्मरणत्याग** है। गरिष्ठ और प्रिय खानपान का त्याग करना **वृष्येष्टरसत्याग** है, तथा किसी भी प्रकार का अपने शरीर को संस्कार नहीं करना जिससे स्व पर के मन में आसक्ति पैदा हो सकती हो **स्वशरीरसंस्कारत्याग** है। ये पाँच भावनाएँ ब्रह्मचर्यव्रत की

विशुद्धि व दृढ़ता में सहायक हैं। इनका बारम्बार चिन्तवन करते रहना चाहिए।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतीचार

अन्यविवाहकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषः
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः॥60॥

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

अन्यविवाहकरण—स्वदार सन्तोषी अणुव्रती अपने पुत्र-पुत्रियों को छोड़कर अन्य व्यक्तियों के विवाह आदि करने कराने में प्रमुख भाग नहीं लेवे। क्योंकि वह स्वदारसन्तोष के साथ परदारनिवृत्तिरूपव्रत भी ले चुका है, परविवाहकरण में एक प्रकार से वह विवाह करने वाले दम्पतियों के मैथुन के साधन जुटाता है, इसलिए उसे ऐसे कार्य निषिद्ध हैं। किंवा अतीचार हैं पर विवाह करने वाला यह विचार करता है कि मैंने वधू-वरों का विवाह कराया है, उन्हें मैथुन सेवन की प्रेरणा नहीं की है। इस दृष्टि से व्रत के भंग व अभंग की वृत्ति होने से अतीचार कहलाता है।

अनङ्गक्रीड़ा—मैथुन सेवन के अंग को छोड़कर अन्य अंगों से क्रीड़ा करना, रागोत्पादक कुचेष्टाएँ करना अनङ्गक्रीड़ा हैं। अतिकामी जीव चर्ममय लिंगादि से योनिस्थान को संतृप्त करते हैं, हस्तमैथुन आदि करते हैं एवं इतर जनों में भी कामोत्पादक चेष्टाएँ करने की प्रेरणा करते हैं यह सब अनङ्गक्रीड़ा है, स्वदारसंतोषव्रती इस अनङ्गक्रीड़ा में परदार सेवन नहीं करता है। अतः व्रत का अभंग है। परन्तु स्वदार को छोड़कर भी अन्यत्र विषय सेवन की भावना रखता है इसलिए भंग है, अतएव अतीचार कहलाता है।

विटत्त्व—रागवर्द्धक, कामासक्ति द्योतक अश्लील वचनों का बोलना विटत्त्व कहलाता है। यह सभी स्वदारसंतोषव्रती के लिए अतीचार है। क्योंकि ऐसे हास्य मिश्रित भण्ड वचनों को बोलने से स्वयं में एवं दूसरों में काम वासना की भावनाएँ जागृत होती हैं।

विपुलतृषः—स्वदारसंतोषव्रती अपनी स्त्री में भी अधिक आसक्ति न रखें। अपनी स्त्री को भी अत्यन्त आसक्तिपूर्वक भोगना, कामसेवन में लीन होकर सर्व पुरुषार्थों को त्यागकर कामसेवन को ही अपना परम पुरुषार्थ

मानना रात-दिन अपनी स्त्री के पास ही पड़े रहना, क्षीणशक्ति के कारण कोई अशक्यता हो तो वाजीकरण आदि औषधियों का प्रयोग करते रहना यह तीव्रकामासक्ति है। इसे स्मरतीव्राभिनिवेश के नाम से भी कहा है। स्वस्त्री में ही वह अत्यधिक आसक्त है, इसलिए विशिष्ट आसक्ति होने से एकदेशव्रतभंग है और परस्त्री का त्यागी है। अतः व्रत अभंग है। इसलिए अतीचार है।

इत्वारिकागमन—अस्वामिका कुलटा असती व्यभिचारिणी और वेश्या के प्रति गमन करना इत्वारिकागमन कहलाता है। विवाहित अथवा अविवाहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहाँ आना जाना अथवा उनसे सम्पर्क रखना स्वदार संतोषव्रती के लिए अतीचार है।

इस प्रकार पाँच अतीचारों को टालकर श्रावक को ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करना चाहिए।

परिग्रहपरिमाणव्रत

धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि॥61॥

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

धन धान्यादि परिग्रहों को अपनी आवश्यकता के अनुसार सीमित कर इतर सर्वपरिग्रहों में निस्पृहता धारण करना यह परिमितपरिग्रहनामक व्रत कहलाता है, इसे इच्छापरिमाण नाम से भी कहते हैं।

संसार के समस्त धन-धान्य संपत्ति, स्त्री पुत्रादि में यह मेरे हैं। मेरा उपकार करने वाले हैं, ऐसी परिणति रखना परिग्रह है, इसलिए आचार्यों ने परिग्रह शब्द का अर्थ **'मूर्च्छा परिग्रहः'** ऐसा किया है, मोहनीय कर्म से उत्पन्न होने वाली ममत्व परिणति मूर्च्छा है, बाह्यान्तरंग परिग्रहों में होने वाली ममत्व की भावना ही परिग्रह है। वह परिग्रह तीन प्रकार का है।

चेतन—पुत्र, कलत्र, भृत्य आदि सचेतन परिग्रह कहलाते हैं।

अचेतन—सोना, चाँदी, घर, बंगला, धन-धान्य अचेतन परिग्रह हैं।

चेतनाचेतन—आग, बगीचा, पुष्पवाटिका आदि चेतनाचेतन या मिश्र परिग्रह हैं।

इन तीनों प्रकार के परिग्रहों में यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार अध्यवसाय रूप ममत्व परिणाम होता है, इसलिए ऐसे ममत्व परिणाम को कम करने के लिए बाह्य परिग्रहों के उपयोग की मर्यादा को सीमित करना चाहिए, परिग्रह की मर्यादा को सीमित करने का अर्थ है कि अपनी आवश्यकता से अतिरिक्त वस्तुओं के प्रति ममत्व परिणति का त्याग।

यह मानव अनन्त इच्छाओं को लेकर रहता है, तीन लोक के सर्व वैभव मेरे घर में रहें यह इच्छा उसकी होती रहती है, ऐसी अनन्त इच्छाओं को प्रतिदिन करता रहता है, परन्तु उसकी पूर्ति होती नहीं, अतएव वह दुखी होता है।

आचार्य गुणभद्र इसे एक सुन्दर उदाहरण देकर समझाते हैं कि–

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन्विश्वमणुपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता॥36॥

आत्मानुशासन

संसार के प्रत्येक जीवित प्राणी के साथ आशारूपी एक खड्डा है, उस खड्डे की पूर्ति की चिन्ता में प्रत्येक जीव रहता है, समस्त विश्व की सम्पत्ति-वैभव को भर दिया जाए तो भी यह खड्डा नहीं भरता है। सारे विश्व के परिग्रह किसी कोने में जाकर पड़े रहेंगे तो ऐसे अनन्त खड्डे कैसे भरेंगे, फिर यह लोभी जीव क्यों यह विचार नहीं करता है कि यह खड्डों के हिस्से में क्या कितना, किसे आवेगा व्यर्थ ही यह जीव परिग्रहों की अभिलाषा कर संक्लिष्ट होता है।

इसलिए आशागर्त को भरने का एक मात्र उपाय है कि उन परिग्रहों को सीमित कर देना, उससे आत्म संतोष होता है कि मेरी इच्छा यहीं तक है इससे अतिरिक्त सर्व परिग्रह मेरे लिए त्याज्य हैं।

परिग्रह को सीमित करने वाला श्रावक अयोग्य अनारम्भ त्रसवध, व्यर्थ स्थावरघात, परदारगमनादिक, असंयम के कारणभूत क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य सुवर्ण, धनधान्य, दासीदास कुप्यभाण्डादि परिग्रहों से ममता का त्याग करें, क्योंकि परिग्रहों के प्रति अत्यधिक आसक्ति होने से ही नाना प्रकार के पापों का संचय यह जीव करता है। इसलिए देश काल जाति, स्वशक्ति आदि का

विचार कर इच्छा को संतोष भावना से निग्रह करें, एवं उपर्युक्त परिग्रहों का परिमाण करें, अनन्तर परिमित मात्रा को भी कृश करते रहने का प्रयत्न करें।

संसार में यह परिग्रह सब अनर्थों का मूल है, परस्पर में कलह, ईर्ष्या, द्वेष, अविश्वास को उत्पन्न करने के लिए परिग्रह ही कारण है, मन में संतोष का कारण है, लोभरूपी अग्नि प्रज्वलित होने पर चित्त में असहनीय संताप क्लेश उत्पन्न होता है उस परिग्रहघृत की आहुति मिलने पर नाना प्रकार के संत्रास, रोग, भय, अविश्वास आदि की उत्पत्ति होती है, इससे पिता पुत्र का, पुत्र पिता का विश्वास नहीं करता है। इसलिए अनर्थकारी परिग्रह को सीमित करना चाहिए।

परिग्रह के अति संचय करने से स्व और पर में संक्लेश उत्पन्न होता है। अतिसंग्रह करने वाला अधिक तृष्णा की बुद्धि से दु:खी होता है, तो निर्धन धन के अभाव में दु:खी होता है, यों इस संसार में परिग्रह से कहीं भी सुख नहीं है।

दाम बिना निर्धन दु:खी तृष्णावश धनवान।
कहुँ न सुख संसार में सब जग देख्या छान॥

परिग्रह के अर्जन में दु:ख, परिग्रह के संचय में दु:ख, सञ्चित परिग्रह के विनियोग में दु:ख, सञ्चित परिग्रह का वियोग न हो, इसकी विवेचना, इस प्रकार परिग्रह किसी भी अवस्था में देखने पर भी वह सुख का साधन नहीं हो सकता है।

अतिसंग्रह करने की वृत्ति जब बढ़ जाती है, तो लोक में विषमता बढ़ जाती है, परिग्रहों का एक स्थान पर संचय होने से श्रीमंत और बड़े श्रीमंत होते हैं, गरीब अत्यंत गरीब होते हैं, इस विषमता से असंतोष रूपी अग्नि भड़कती है इसलिए इसमें समतोल वृत्ति को साधने के लिए अतिपरिग्रह का संचय न करना, अपनी आवश्यकता के अनुसार सीमित परिग्रह रखना, अतिरिक्त संपत्ति को घोर गरीब, अनर्थ, पङ्क दीन आदि के उद्धारार्थ वितरण करना, प्रति वर्ष अपनी सीमा से अतिरिक्त बढ़ने वाली धनसंपत्ति को लोकोपयोगी कार्यों में दान कर देना यह भद्र पुरुष का कार्य है।

आज गरीबी हटाओ की उद्घोषणा के साथ समाजवाद की ओर जाने का प्रत्यत्न है, उसका आदेश जैनाचार्यों ने हजारों क्या लाखों वर्ष पहले

जीवन का कल्याण करने वाले साधकों को दिया है। इस एक अपरिग्रहवाद को अपनाया जावे, तो संसार से समस्त टंटे बखेड़े, संघर्षों की समाप्ति हो सकती है, विश्व में शान्ति हो सकती है। लोग एक दूसरे के प्रति कृतज्ञता के भाव व्यक्त करेंगे, अतृप्ति और असमाधान का अंत होगा। आज एक दूसरे के प्रति आतंक जमाने का यत्न जो किया जाता है, वह केवल अपने स्वार्थ प्रवृत्ति के पोषण के लिए है, इस व्रत से सारे संकट दूर हो सकते हैं।

बाह्य धनधान्यादिक परिग्रहों को सीमित करने की भावना क्यों होती? इसका कारण अन्तरङ्ग परिग्रहों से वह परिग्रसित है। अनन्तानुबन्धी आदि क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, वेद एवं मिथ्यात्व, इस प्रकार के चौदह परिग्रह अन्तरङ्ग परिणाम में विशुद्धि लाकर उन मिथ्यात्वादि परिग्रहों को हटाना चाहिए।

परिग्रहत्यागव्रत की पाँच भावनाएँ–

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियरागद्वेषवर्जनानि पञ्च।।

तत्त्वार्थसूत्र 7/8

अपने लिए इष्ट व अनिष्ट ऐसे पाँच इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग और द्वेष का त्याग करना इस व्रत की दृढ़ता के लिए कारण है। यह मानव इष्ट पदार्थों के प्रति अनुरक्त होता है, और अनिष्ट पदार्थों के प्रति द्वेष करता है। इस प्रकार आसक्ति और अनासक्ति दोनों के त्याग से परिग्रहों को सीमित करने की भावना होती है और अपरिग्रहव्रत की रक्षा होती है। इसी से मनोज्ञामनोज्ञस्पर्शरागद्वेषवर्जन, मनोज्ञामनोज्ञरसरागद्वेषवर्जन, मनोज्ञामनोज्ञगन्धरागद्वेषवर्जन मनोज्ञामनोज्ञवर्णरागद्वेषवर्जन और मनोज्ञामनोज्ञशब्दरागद्वेषवर्जन ये अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएँ बतलायी हैं। व्रती के लिए सदा व्रत की रक्षा के लिए इन भावनाओं का चिन्तवन करते रहना चाहिए। यद्यपि पाँचों व्रत की भावनाएँ महाव्रत की अपेक्षा बतलायी हैं तथापि इन्हीं के अनुरूप अणुव्रतों की भी भावनाएँ होती हैं। अतएव प्रसंग वश सभी व्रतों की भावनाओं का वर्णन किया गया।

परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतीचार

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च कथ्यन्ते॥62॥

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

अपने परिमित परिग्रह की सीमा से अतिरिक्त अतिवाहनादि संग्रह करने की अभिलाषा करना, अर्थात् गाड़ी, घोड़ा, दासीदास आदि अधिक संख्या में बिना प्रयोजन रखने की भावना करना, बिना प्रयोजन अत्यधिक परिग्रहों के संचय का विचार करना, दूसरों के ऐश्वर्य को देखकर आश्चर्य करना, अतिलोभ करना एवं लोभ से अतिसंग्रह की इच्छा से मनुष्य पशु आदि पर अधिक भार लादना, यह पाँच अतीचार हैं।

यह पाँच अतीचार उपलक्षण से कहे गए हैं। संग्रहवृत्ति के अतिलोभ से होने वाली प्रवृत्तियों के कारण परिग्रह की सीमा बढ़ाना अतीचार के अन्तर्गत है इसी के आधार पर आचार्य उमास्वामी ने क्षेत्र और वास्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रम तथा कुप्य भाण्ड के प्रमाण का अतिक्रम नामक परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतीचार बतलाये हैं।

अतीचार रहित पाँच अणुव्रत स्वरूप निधियाँ सौधर्म आदि स्वर्गों के सुख प्रदान करती हैं। स्वर्गों में अणिमा महिमा आदि आठ सिद्धियाँ और सप्त धातुरहित दिव्यशरीर प्राप्त होते हैं पाँच अणुव्रतों के पालन से इहलोक में भी समादर प्राप्त होता है। जैसे अहिंसाणुव्रत के पालन में यमपाल चाण्डाल, सत्याणुव्रत के पालन में सेठ धनदेव, अचौर्याणुव्रत के पालन में वारिषेण, ब्रह्मचर्याणुव्रत के पालन में नीली और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के पालन में जयकुमार (चक्री भरत के सेनापति) उत्तम समादर को प्राप्त हुए और इनकी प्रसिद्धि जगत् में व्याप्त हुई। जो अणुव्रतों महाव्रतों का आश्रय नहीं लेते हैं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहरूपी पापों में लिप्त रहते हैं, उनकी धनश्री, सत्यघोष, तापस यमदण्डकोतवाल आदि के समान लोकनिन्दा तो होती ही है, अधोगति के दुखों को भी भोगना पड़ता है।

अतएव इन पाँच अणुव्रतों को निर्दोष रूप से पालन कर आत्महितैषी अपना कल्याण करें।

गुणव्रतों का विवेचन

व्रती श्रावक को पञ्च अणुव्रतों में गुणों की अभिवृद्धि के लिए तीन गुणव्रतों के पालन करने की आवश्यकता है, गुणों की अभिवृद्धि कराने वाले होने के कारण गुणव्रत संज्ञा सार्थक है।

आचार्य समंतभद्र स्वामी गुणव्रतों का वर्णन करते हुए कहते हैं–

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्।
अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः॥67॥

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

गुणव्रतों के तीन भेद हैं, दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत (अनर्थदण्डत्यागव्रत) और भोगोपभोगपरिमाणव्रत, तीनों के द्वारा व्रतों में गुणों की वृद्धि होती है।

इसलिए इन्हें गुणव्रतों के नाम से महापुरुष कहते हैं। इन गुणव्रतों के पालन करने से व्रती साधक अनेक पापों से बचता है, इतना ही नहीं उसके जीवन में अनन्त आकांक्षाओं का अन्त होने के कारण वह स्वात्मसंतोषी हो जाता है। अणुव्रतों के समान गुणव्रतों की भावनाओं का वर्णन नहीं किया है, आचार्यों ने इसके अतीचारों का वर्णन अवश्य किया है। अब इन गुणव्रतों पर संक्षेप से विचार किया जा रहा है–

दिग्व्रत

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै॥68॥

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

एकेन्द्रियादि सूक्ष्म जीवों की विराधना से बचने के लिए पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, ऊर्ध्व और अधः, इन दशों दिशाओं में मरण पर्यन्त इतने ही दूर तक जाऊँगा, उससे बाहर नहीं जाऊँगा यह प्रतिज्ञा करना दिग्व्रत नामक गुणव्रत कहा जाता है।

इन दशों दिशाओं में अवधि अथवा मर्यादा निश्चय करते समय कोई समुद्र, पर्वत, नदी, अरण्य आदि परिधि का नियम कर सकते हैं। जीवन पर्यन्त अमुक समुद्र से बाहर अमुक दिशा में नहीं जाऊँगा इत्यादि प्रकार से वह नियम लेता है। इस प्रकार के नियम से उस अवधि के बाहर के स्थूल

सूक्ष्म दोनों प्रकार के जीवों की हिंसादिक से यह व्रती बचता है, अतः उसे बाहर की अपेक्षा से अर्थात् उपचार से महाव्रती भी कह सकते हैं। इसका स्पष्टीकरण है कि प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि द्रव्य रूप है, इनके मन्द उदय भाव रूप चारित्रमोहनीय है, परिणाम अतिशय मन्द हो जाते हैं, इसलिए कि इन परिणामों का अस्तित्व सहज में ही नहीं जाना जा सकता। इसलिए अतिशय मन्दता के कारण दिग्व्रत में किया हुआ त्याग ही महाव्रत के समान है। इस प्रकार इस गुणव्रत के आचरण से अणुव्रतों में अधिक विशुद्धि होती है।

दिग्व्रत के अतीचार–

सीमाविस्मृतिरूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः।
अज्ञानतः प्रमादाद्वा, क्षेत्रवृद्धिश्च तन्मलाः॥ सागरधर्मामृत

अर्थ–(1) सीमा को भूल जाना, (2) ऊर्ध्वभागव्यतिक्रम, (3) अधोभागव्यतिक्रम, (4) तिर्यग्भागव्यतिक्रम और (5) क्षेत्रवृद्धि इस तरह दिग्व्रत के पाँच अतीचार होते हैं।

सीमा की विस्मृति–मन्द बुद्धि अथवा कोई सन्देह आदि हो जाना अज्ञान कहलाता है, तथा अत्यन्त व्याकुल हो जाना अथवा चित्त की वृत्ति का दूसरी ओर लग जाना प्रमाद कहलाता है। इस प्रकार प्रमाद से या अज्ञान से नियमित की हुई मर्यादा को भूल जाना सो सीमा की विस्मृति है।

ऊर्ध्वभागव्यतिक्रम–पर्वतादिक के ऊपर चढ़ने की, की हुई मर्यादा का उल्लंघन करना।

अधोभागव्यतिक्रम–तलघर, कूप, बावड़ी, खदान आदि में उतरने की मर्यादा को भूलकर ज्यादा नीचे उतर जाना।

तिर्यग्भागव्यतिक्रम–पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, आग्नेय आदि दिशा बिदिशा की मर्यादा को भूल जाना या उल्लंघन करना।

क्षेत्रवृद्धि दिग्व्रत–की हुई मर्यादा में पूर्व की कमती कर लेना पश्चिम की बढ़ा लेना, ये लोभ वश कार्य होता है ये व्रत भंग का कार्य है पूर्ण मर्यादा का भंग नहीं किया इसलिए ये भंगाभंग है सो अतीचार है।

---

1. तत्त्वार्थसूत्र 7/29

अनर्थदण्डत्यागव्रत

अभ्यन्तरंदिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुव्रर्तधराग्रण्यः॥74॥

रत्नकरण्डश्रावकाचार

मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति का नाम दण्ड है। प्रयोजन रहित मन, वचन, काय की क्रिया-प्रवृत्ति को अनर्थदण्ड कहते हैं। प्रयोजन रहित, पाप के कारण रूप कार्यों को सीमा के अन्दर भी नहीं करना अनर्थदण्डविरमणव्रत/ अनर्थदण्डत्यागव्रत कहलाता है।

इस अनर्थदण्डविरमणव्रत के पाँच प्रकार के भेद हैं, पापोपदेश, हिंसादान, दुःश्रुति, अपध्यान और प्रमादचर्या।[1]

पापोपदेश—जिन वाक्यों में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, कृषि-व्यापार आदि की प्रेरणा हो उन्हें पापोपदेश कहते हैं। उदाहरणार्थ चोर, डाकू, ठग, भिल्ल, किसान आदि से यह कहें कि यहाँ क्यों बैठे हो, नदी के किनारे बहुत से पक्षी आये हुए हैं, अभी बीज बोओगे तो खेती अच्छी होगी, अमुक देश में अच्छा व्यापार होता है, अमुक घर में खूब धन है, वहाँ डाका डालो, आदि बिना प्रयोजन के लोगों को कहना यह पापोपदेश है, अनर्थदण्डविरति वाले श्रावक को ऐसा उपदेश नहीं देना चाहिए।

हिंसादान—अनर्थदण्डविरति वाले श्रावक हिंसा के उपकरण रूप विषय, शस्त्र, लाठी, गाड़ी, फावड़ा आदि पदार्थों को दूसरों को नहीं देवें, परस्पर के व्यवहार में पकाने, कूटने, पीसने आदि के निमित्त आग, चक्की, मूसल, ऊखल आदि वस्तुओं की लेन देन भी न करें, क्योंकि यह भी हिंसादान है।

दुःश्रुति—काम और हिंसारूप मार्ग का प्रतिपादन जिन शास्त्रों में है, ऐसे चित्त को कलुषित करने वाले एवं मोक्षमार्ग के विरोधी राग द्वेष को बढ़ाने वाले शास्त्रों को सुनना दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड है, उससे आत्महित का कोई प्रयोजन नहीं है।

---

1. पापोपदेशहिंसादानापध्यान दुःश्रुतिः पञ्च।
   प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः।।75।। रत्न. श्रा.

वात्सायनादि का कामशास्त्र लटकादि प्रणीत हिंसाशास्त्र, वार्तानीति आदि आरम्भ-परिग्रह शास्त्र, मदशास्त्र, वशीकरण, शृंगार आदि के प्रतिपादक कामोत्तेजक राग शास्त्र, इनको सुनना पढ़ना आदि दु:श्रुति है, इनसे उपजीविका करना भी अनर्थदण्ड है, इस प्रकार चित्त में संक्लेश उत्पन्न करने वाले संसार वर्धक शास्त्रों को सुनना दु:श्रुति नामक अनर्थदण्ड है, इसे त्याग करना चाहिए।

अपध्यान–चार प्रकार के ध्यान में आर्तध्यान और रौद्रध्यान को अपध्यान कहते हैं, दु:ख अथवा मन में किसी प्रकार की पीड़ा होने पर बारम्बार उसी का चिन्तवन करना आर्तध्यान है, अपने स्वार्थ में इतर लोग बाधा डालें, उस समय क्रोध परिणति होकर तन्मय होना रौद्रध्यान है। रातदिन दूसरों का नाश करूँगा आदि रौद्रात्मक विचार इस ध्यान में आता है, इसलिए ऐसे चित्त कलुषित करने वाले ध्यान को चित्त में स्थान नहीं देना चाहिए।

प्रमादचर्या–बिना प्रयोजन चलना फिरना, बकवास करना, दौड़ना, दौड़ाना, पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन का आरम्भ करना, वनस्पति का छेदना, छिदवाना, तोड़ना, तुड़वाना इत्यादि कार्य बिना प्रयोजन करना सो सब सावद्य कार्य हैं, इन्हीं को महापुरुष प्रमादचर्या कहते हैं। इस अनर्थदण्ड में ही जो पन्द्रह प्रकार के खरकर्म हैं, वे खरकर्म भी गृहस्थों के द्वारा त्याग करने योग्य हैं।

वनजीविका–टूटे हुए अथवा बिना टूटे वृक्षों को बेचना अथवा खरीदना गेहूँ चना आदि धान्यों को चक्की में पीसना या दलना, पिसाना और दलाना आदि।

अग्निजीविका–छहों काय के जीवों की विराधना करने वाले ऐसे अंगारे बनाना, कोयले बनाना, भट्टा लगवा कर ईंटें पकवाना, चूना पकाना व पकवाना।

अनोजीविका–गाड़ी, रथ, तांगा, बग्घी या इनके पहिये, बनवाकर या बनाकर, अथवा भारवाही करना अथवा दूसरों से करवाना या बेचना, खरीदना अथवा हाथी, ऊँट, घोड़ा, बलदा, गाय, भैंस, बकरी आदि को खरीदना बेचना ये सब महापाप के व्यापार हैं।

स्फोटजीविका–जिससे पृथ्वीकायिक आदि जीवों का घात हो ऐसे पटाके, आतिशवाजी, बारूद के कार्य करना-कराना, बेचना बिकाना।

भाटकजीविका–गाड़ी, घोड़े आदि को किराये पर देना।

यंत्रपीडनजीविका–तिल, सरसों, मूंगफली आदि पदार्थ कोल्हु में पेलना, पिलवाकर व्यापार करना, इनमें रहने वाले अनेक जीवों का घात होता है, पीड़ा होती है, या ये पदार्थ बदले में देकर तेल खरीदना आदि।

निर्लांछनकर्म–जैसे पशुओं की नाक छेदना, वदिया करना ये महा पाप के और कर्म बंध के तथा दु:ख के कारण हैं।

असतीपोष–दूसरे जीवों के घात करने वाले जो जीव हैं, इनको पालना, उनको रखकर लड़ना, लड़ाना आदि क्रियाओं द्वारा हर्ष मनाना।

सर: शोष–धान्य बोना, खेतों में पानी देना, जैसे कूआ, बावड़ी, तालाब, नदी आदि जलाशयों से जल निकालकर व्यापार करना, इनमें रहने वाले लाखों मछलियों आदि जीवों का नियम कर घात होता है सो वर्जनीय है।

दवप्रद–घासफूस तृणादिक जलाना, जलवाना या खेतों में अग्नि लगवाना।

विषवाणिज्य–अनेक जीवों को दु:खदाई विष आदि बेचना बिकवाना।

लाक्षादिवाणिज्य–लाख, गोंद, मनसील, नील आदि पदार्थों को तोड़ना, तुड़वाना, इनका ठेका लेना या देना, इनकी खेती व्यापार करना या टंकण खार आदि का व्यापार करना।

दंतवाणिज्य–जैसे हाथी, सांभर, सिंह आदि जानवरों की हड्डी निकालना या निकलवाना फिर इनके उपकरण बनवाना इनका व्यापार निन्दनीय है क्योंकि नीच लोग भील, अध:कर्मी, चाण्डाल आदि इन जीवों को जीते जी लोभ के वश होकर मार डालते हैं सो ये सब महा पाप करना और कराना है।

केशवाणिज्य–दासी दास, पशु आदि के बेचने से परतन्त्रता या वध बन्धन जीवों के लिए प्राप्त होता है वहाँ पर भूख प्यास जीवों को भोगनी पड़ती है। भेड़ आदि के बाल काटकर या कटवाकर बेचना भी निन्द्य कर्म हैं इनको करने वालों को महा दु:ख उठाना पड़ता है।

रसवाणिज्य–जैसे मक्खन, शहद बेचने वालों को महान् पाप बंध होता है। इन पदार्थों में हमेशा ही जीवों की उत्पत्ति और निवास बना ही रहता है तथा ऐसा मद्य (शराब) भी जीवों को उन्माद पैदा करता है। अतः पाप भीरुओं को चाहिए कि ऐसे व्यापारों को हमेशा के लिए अर्थात् आजन्म के लिए त्याग करें।

इस प्रकार गृहस्थों को चाहिए कि अपने संसार में रहने की जीविका इस प्रकार के खर कर्मों से रहित शुद्ध रक्खें, जिससे पतन से बचकर कर्म बंध न हो।

अनर्थदण्डत्यागव्रत के पाँच अतीचार–

कंदर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरते॥81॥

रत्नकण्डकश्रावकाचार

अर्थात् कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, अतिप्रसाधन, असमीक्ष्याधिकरण ये पाँच अनर्थदण्डत्याग व्रत के अतीचार हैं।

कंदर्प–राग भाव के उद्रेक से हास्य मिश्रित अशिष्ट वचन बोलना अथवा काम भोग उत्पन्न करने वाले वचन बोलना सो सब कन्दर्प नामक अतीचार हैं।

कौत्कुच्य–हास्य शौर, भण्ड वचन सहित भौंहें, नेत्र, ओष्ठ, हाथ पैर, नाक, मुख आदि की कुत्सित चेष्टा करना, यानी विकारों को धारण करना। ये कौत्कुच्य नामक अतीचार हैं। ये दोनों अतीचार प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्डत्यागव्रत के अतीचार हैं।

मौखर्य–धृष्टतापूर्वक, विचार और सम्बन्ध रहित तथा असत्य बकवाद करना मौखर्य नामक अतीचार हैं।

अतिप्रसाधन–प्रयोजन से अधिक आरम्भ वं संग्रह करना। जैसे किसी को कोई कार्य करने के लिए कहना किन्तु यह कार्य कर हम इस कार्य में तेरी मदद करेंगे और अन्य से भी मदद करायेंगे और तुझे खूब फायदा उठवायेंगे इत्यादि कहकर बिना विचारे उन हिंसा के कार्य करने वालों को उत्साह करना और हिंसा करना। इसी प्रकार लकड़ी काटने वालों, ईंट पकाने

वालों, भट्टा लगाने वालों से आरम्भादि कराकर बहुत हिंसा कराना अतीचार हैं।

असमीक्ष्याधिकरण–हिंसा के उपकरणों को अपने समीप रखना जैसे ओखली के साथ मूसल, हल के साथ उसका फाला, गाड़ी के साथ धुरा, धनुष के साथ बाण, क्योंकि जब हिंसा के उपकरण होंगे तो हर कोई मनुष्य हर प्रकार से हिंसा कर सकता है सो ही अतीचार हैं।

इस प्रकार अणुव्रतों में गुण की अभिवृद्धि के लिए दिग्व्रतों के समान ही अनर्थदण्डविरतिव्रत को अतीचार रहित होकर पालन करना चाहिए, अनर्थदण्डविरतिव्रत के पालन करने से व्रत की शुद्धि ही नहीं, आत्मविशुद्धि भी होती है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत

गुणव्रत का तीसरा भेद भागोपभोगपरिमाणव्रत है जिसका लक्षण इस प्रकार है–

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये॥82॥

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

राग और मोह को कम करने के लिए परिग्रहपरिमाणव्रत के भीतर नियमित और स्वीकृत इन्द्रिय विषयों को भी प्रयोजनीभूत विषयों का नित्य प्रति नियम करना यह भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। अनर्थदण्डत्यागव्रत में और भोगोपभोगपरिमाणव्रत में स्वीकृत पदार्थों में भी अप्रयोजनीभूत पदार्थों का त्याग करना बताया गया है यहाँ पर परिग्रहपरिमाणव्रत में नियमित प्रयोजनीभूत पदार्थों का एवं इन्द्रिय विषयों का प्रतिनित्य नियम करना भोगोपभोगपरिमाण है।

जो एक बार सेवन करने योग्य है जैसे–माला, चन्दन, रोटी, दाल आदि सब भोग कहलाते हैं, जो बारबार भोगने में आते हैं, उन्हें उपभोग कहते हैं, जैसे वस्त्र, आभूषण, महल, मकान, स्त्री आदि। कहीं-कहीं इसे उपभोग और परिभोग के नाम से भी कथन किया गया है।

एक, दो, तीन दिन आदि काल की मर्यादा करके जो अभक्ष्यादि पदार्थों

का त्याग किया जाता है उसे नियम व्रत कहते हैं। यावज्जीवन जो त्याग किया जाता है उसे यम कहते हैं।[1] भोगोपभोगपरिमाणव्रत दोनों प्रकार (नियम एवं यम) से किया जाता है।

त्रसघात, बहुघात, प्रमादविषय, अनिष्ट, अनुपसेव्य इनका त्याग भी भोगोपभोगपरिमाण में अन्तर्भाव होता है अर्थात् भोगोपभोगपरिमाण करने वाला उन पाँच प्रकार के त्याज्य विषयों का त्याग करें।

त्रसघात–भोगोपभोग परिसंख्यान करने वाले व्रती को उचित है कि वह जिन इन्द्रियों के भोग्य पदार्थों का भक्षण करने से मांस के समान बहुत से त्रस जीवों का घात होता है, ऐसे विषयों का वह त्याग करे। जिसके सेवन से मधु के समान रसात्मक बहुत से तदाश्रित जीवों का घात होता है एवम् जिन कन्दमूलादिक के भक्षण से अनन्त स्थावर जीवों का घात होता है ऐसे पदार्थों का भी त्याग करें। इसी प्रकार जिसमें असंख्य सम्मूर्च्छन जीव आकर एकत्रित होते हैं, एवं जिनमें त्रसजीव अपना स्थान बनाते हैं ऐसे कमलनाल, केतकी, कुसुम, नीम के फूल, अर्जुन के फूल, अरणी के फूल, बिल्वफल आदि का भी भक्षण नहीं करना चाहिए इनमें त्रस जीवों का घात होता है।

बहुघात–त्रसघात के समान बहुघात को भी त्याग करना चाहिए मांसादिक जिस प्रकार त्रस जीवों का आधार है, उसी प्रकार शहद और मदिरा बहुघात का आश्रय होने से उनका त्याग करना चाहिए। इसी प्रकार गुलवेल, लहसुन, अदरक, मूली, आलू आदि के भक्षण से भी बहुत से स्थावर जीवों का घात होता है, इसलिए उनका परित्याग अवश्य करना चाहिए।

प्रमादविषय–विषय, भांग, धतूरा, मद्य आदि के सेवन से प्रमाद उत्पन्न होता है। इनमें बहुघात और त्रसघात भी सम्भवते हैं। इसलिए प्रमाद के कारण होने से इनका त्याग ही नहीं धनोपार्जन के लिए इनका व्यापार भी नहीं करना चाहिए क्योंकि लोक में यह अनर्थदण्डकारक सावद्य व्यापार है।

अनिष्ट–जिनमें त्रसघात, बहुघात नहीं है प्रमाद जनक भी नहीं, परन्तु अपनी प्रकृति के लिए अनुकूल नहीं है। उन पदार्थों को अनिष्ट कहते हैं।

---

1. नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारात्।
   नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते।।87।। रत्नकरण्डकश्रावकाचार

ऐसे अनिष्ट पदार्थों का भी त्याग करना चाहिए।

अनुपसेव्य–जो त्रसघात, बहुघात, प्रमाद से रहित हैं प्रकृति के लिए भी अनिष्ट नहीं हैं, तथापि उत्तम पुरुषों के द्वारा सेवनीय नहीं हैं। ऐसे विकृत वेषधारण, मलमूत्र, नाकमल आदि अनुपसेव्य हैं।

व्रती पुरुषों को इन पाँच प्रकार के पदार्थों का त्याग करना चाहिए, यह केवल उपलक्षण से कथन है, इसी प्रकार जिनमें त्रसघातादि होते हैं, ऐसे निम्नलिखित पदार्थों का भी सेवन न करें।

नाली, सूरण, तरबूज, द्रोणपुष्प, मूली, गाजर, निम्बकुसुम आदि का त्याग करना चाहिए, इनमें अल्पफल और बहुघात है।[1]

दयालु मानवों को उचित है कि अनन्तकाय वाली साधारण वनस्पति का सर्वदा के लिए त्याग करें, क्योंकि एक वनस्पति के भक्षण करने से अनन्त जीवों का घात होता है जिस वनस्पति के एक शरीर में अनन्त साधारण जीव रहते हैं, उसे अनन्तकाय या साधारण वनस्पति कहते हैं।

इस अनन्तकाय वनस्पति के सात भेद हैं। मूलज, अग्रज, पर्वज, कन्दज, स्कंधज, बीजज और सम्मूर्च्छन।

मूलज–अदरक, हल्दी, मूलज हैं।

अग्रज–गुलाब आदि का फूल अग्रज है।

पर्वज–देवनार, ईख, बेल, आदि गाँठ से उत्पन्न होने वाले पर्वज हैं।

कन्दज–प्याज, सूरण, आलू आदि कन्दज हैं।

स्कंधज–सतखी, कटेरी, पलाश आदि।

बीजज–चावल, गेहूँ, चना आदि वनस्पति।

सम्मूर्च्छन–बीज के अभाव में मिट्टी पानी आदि के संयोग से ही उत्पन्न होने वाली घास आदि वनस्पति सम्मूर्च्छन हैं।

ये सब वनस्पतियाँ प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के भेद से दो प्रकार की होती हैं।

---

2. अल्पफल बहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि।
नवनीत निम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्।।88।। रत्नकरण्डकश्रावकाचार

इसी प्रकार दयालु व्रती अग्नि से बिना गरम किये हुए दूध, दही, छांछ के साथ मूँग, चना, उड़द आदि द्विदल अन्न भी भक्षण न करें, क्योंकि कच्चे दूध, दही आदि गोरस के साथ द्विदल का संयोग होने से सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती है। ऐसा आगम है।

इसी प्रकार बिंधे हुए पुराने, काले पड़े हुए, फूली आ गई जिनमें, ऐसी उबली आदि धान्यों का भक्षण नहीं करना चाहिए, इसी प्रकार न बिदारे हुए मूँग, चना आदि भी अभोज्य हैं। क्योंकि इनमें भी अंकुर उत्पन्न होने की शक्ति मानी गई है। वर्षा काल में पत्र-शाक का भी त्याग करें।

सारांश यह है कि जिसमें अल्पफल हो किन्तु बहुघात होता हो, ऐसे पदार्थों का सेवन भोगोपभोगपरिमाणव्रती को नहीं करना चाहिए।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत के पाँच अतीचार–

विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृति रति लौल्यमतितृषानुभवौ।
भोगोपभोगपरिमाणव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते॥७०॥

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

पञ्चेन्द्रिय विषयरूपी विष से उपेक्षा रहित होना, पूर्व भोगे हुए विषयों का बार-बार स्मरण करना, वर्तमान भोगों में अतिलोपुपता, आगामी भोगों में अति आकांक्षा, अतएव अनुभव में भी अत्यासक्ति यह पाँच अतीचार भोगोपभोगपरिमाणव्रत के हैं।

भोगोपभोग विषयों के परिमाण करने पर उस व्रती को उचित है कि पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों में उपेक्षा धारण करें, पूर्वभुक्त विषयों का स्मरण न करें, वर्तमान के भोगों में अतिलोभ न रखें। आगामी भोगों की आकांक्षा से उसकी सामग्री आदि एकत्रित न करें। भोग तो वेदना का प्रतीकार है ऐसा समझकर नियत काल में भी अनासक्ति से उन भोगों का अनुभव करें। अन्यथा इस व्रत में मलिनता आने की संभावना है।

इस व्रत के अतीचारों का वर्णन करते समय अन्य ग्रन्थकारों ने सचित्त, सचित्तसंबद्ध, सम्मिश्र, दुष्पक्व, एवं अभिषव आदि को ग्रहण करना ये भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतीचार कहे हैं। इनका भी अभिप्राय यही है कि भोगोपभोगपरिमाणव्रती को इन्द्रिय की लोलुपता से दूर रहना चाहिए, इन्द्रिय

लोलुपता के कारण ही भक्ष्य, अभक्ष्य आदि का विचार न करते हुए जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत होकर जो स्वच्छंद हो जाता है, वह नाना प्रकार के अनर्थों का भागी होता है। इन सब बातों का विचार कर आत्मसंयम की वृद्धि के लिए भोगोपभोगपरिमाणव्रत नामक गुणव्रत का पालन श्रावक अवश्य करें।

शिक्षाव्रतों का विवेचन

अणुव्रतों का धारण और गुणव्रतों का पालन जिस प्रकार आवश्यक है उसी प्रकार श्रावक को चार शिक्षाव्रतों का पालन भी आवश्यक है, क्योंकि इनसे महाव्रतों की शिक्षा मिलती है। इसलिए इनका नाम शिक्षाव्रत यह सार्थक है।

शिक्षाव्रतानि देशावकाशिकादीनि संश्रयेत्।
श्रुतिचक्षुस्तानि शिक्षाप्रधानानि व्रतानि हि।।24/5।।

सागारधर्मामृत

श्रुतज्ञानरूपी नेत्र को धारण करने वाले श्रावक को उचित है कि वह देशावकाशिक आदि शिक्षाप्रधान शिक्षाव्रतों को अवश्य धारण करे। शिक्षाव्रत चार प्रकार के हैं।

देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैय्यावृत्य या अतिथिसंविभाग व्रत इस प्रकार शिक्षाव्रत के चार भेद हैं।[1]

देशावकाशिक शिक्षाव्रत

दिग्व्रत में की हुई मर्यादा में तृष्णा को घटाने के लिए ग्राम, घर, पर्वत आदि की मर्यादा करके सीमा के बाहर घण्टा, दो घण्टे, तीन घण्टे नहीं जाऊँगा इस प्रकार का नियम देशावकाशिकव्रत कहलाता है। परन्तु देशावकाशिक व्रत में उसकी मर्यादा को घटाकर रोज-रोज नियम किया जा सकता है, क्योंकि जीवन पर्यंत किए गए उस नियम की परिधि का उपयोग नहीं हो सकता है, इसलिए उस विस्तृत क्षेत्र से उत्पन्न समस्त हिंसादिक पापों से बचने के लिए देशावकाशिक व्रत का आचरण आवश्यक है जिस प्रकार दिग्व्रत में सीमित मर्यादा के बाहर के सर्व हिंसादिक पापों की निवृत्ति हो

1. देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैय्यावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि।।91।। रत्नकरण्डकश्रावकाचार

जाती है। उसी प्रकार देशावकाशिकव्रत में किए हुए अल्प क्षेत्र के बाहर के सर्व हिंसादिक पापों की निवृत्ति हो जाती है, क्रोधादिक कषायों पर भी नियंत्रण हो जाता है एवं इससे सर्वदेशरूप से त्याग करने के अभ्यास की शिक्षा मिलती है, यह नियमव्रत है।

देशावकाशिक के पाँच अतीचार–

पुद्गलक्षेपणं शब्दश्रावणं स्वाङ्गदर्शनम्।
प्रेषं सीमबहिर्देशे ततश्चानयनं त्यजेत्।। सागारधर्मामृत 5/27

इसी को भगवदुमास्वामी ने–

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः।

इस प्रकार संक्षेप सूत्र से प्रतिपादन किया है।

सीमा के बाहर कार्यवश एवम् लोभवश स्वयं न जाकर बाहर से कोई पदार्थ को मंगवाना **आनयन प्रयोग** है।

व्यापार के निमित्त से स्वयं सीमा के बाहर न जाकर कोई माल वगैरह भेजना यह **प्रेष्यप्रयोग** है।

कोई लोभवश सीमा के बाहर न जाकर सीमा के पास खड़े होकर शब्द करना, आवाज देना आदि **शब्दप्रयोग** है।

लोभवश सीमा के बाहर न जाकर सीमा के पास खड़े होकर कोई पत्थर आदि फेंककर इशारा करना **पुद्गलक्षेप** है।

सीमा को उल्लंघन न करने पर भी देशावकाशिक व्रती सीमा के समीप जाकर अपने शरीरादि को दिखाकर अपने अभीप्सित कार्य के लिए संकेत करता है वह '**स्वांगदर्शन** नामक अतीचार है, इसे आचार्य उमास्वामी ने **रूपानुपात** नाम से कहा है।

इसलिए इन पाँच अतीचारों से यथासंभव बचकर देशावकाशिक व्रत का पालन करना चाहिए गमनागमनादि के निमित्त से होने वाले हिंसादि पापों से बचने के लिए ही दिग्व्रत और देशव्रत का पालन किया जाता है। यदि स्वयं के गमनागमनादि में जीव हिंसा होती है तो अपने प्रतिनिधि, मुनीम, नौकर चाकर आदि को प्रेषित करने में भी हिंसादिक पापों की प्रवृत्ति होती ही है।

सीमा तक स्वयं जाकर पुद्गलक्षेप, रूपानुपात, शब्दानुपात करने में भी कार्यगत दोष लगते ही हैं। इसलिए इस व्रत की शुद्धि के लिए इन अतीचारों का त्याग करना चाहिए।

सामायिक शिक्षाव्रत

आसमयमुक्तिमुक्तं पञ्चाधानामशेषभावेन।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति॥97॥

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

नियत समय तक समस्त परिणाम से पञ्च पापों का परित्याग कर एकान्त में आत्म चिन्तवन करना सामायिक है। सामायिक अर्थात् शास्त्र को जानने वाले महापुरुष इस सामायिक की प्रशंसा करते हैं। सामायिक में नियत काल तक सर्व सावद्य योग का प्रतीकार होता है और इससे ध्यान सिद्धि की शिक्षा मिलती है। इसलिए इसे सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं।

सामायिक शब्द का क्या अर्थ है? इसका विचार यहाँ पर करें समय शब्द का अर्थ आत्मा है आत्मा के धर्म को या जिससे आत्मधर्म की प्राप्ति हो अथवा आत्मा के साथ एकीकरण हो उसे सामायिक कहते हैं। रागद्वेष की निवृत्ति का नाम सम परिणति है। प्रशमादिरूप ज्ञान का लाभ अय है। दोनों मिलने पर समान पद बनता है। समाय जिसका प्रयोजन है, उसे सामायिक कहते हैं।

समय का अर्थ शुद्धात्म परिणति और तदर्थ क्रिया सामायिक है। व्यवहार नय से जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक जप तप स्तुति पूजादि सामायिक कहलाते हैं। निश्चय से अपनी आत्मा का ध्यान करना सो सामायिक है। मूलाचार में वट्टकेर स्वामी ने मुनिधर्म के आश्रय से सामायिक की व्याख्या की है–

सम्मत्तणाणसंजमतवेहि जं तं पसत्थसमगमणम्।
समयं तु तं तु भणिदं तमेव समाइयं जाणे॥498॥

अर्थात् सम्यक्त्व, ज्ञान संयम और तप इन चारों रूप जीव की अवस्था को सामायिक कहते हैं। **''समायः समता प्रयोजनं यस्य सः सामायिकः''** इस व्युत्पत्ति के अनुसार समाय-समताभाव की प्राप्ति जिसका प्रयोजन है,

वह सामायिक कहलाती है।

समयः प्रयोजनमस्त्यसौ सामायिकः समय अर्थात् त्रिसंध्या काल रूपी समय ही जिसका प्रयोजन है, तीन संध्याकाल में नियमित रूप से जो की जाती है उसे सामायिक कहते हैं।

सम एकीभावेन अयः गच्छति इति समय, आत्मा, समय एव सामायिकः अथवा समयः प्रयोजनं यस्मिन् इति सामायिकम्।

एकत्व से जिसका गमन हो उसे समय अथवा आत्मा कहते हैं। आत्मा ही जिसमें प्रयोजनीभूत हो, उसे सामायिक कहते हैं। इस प्रकार सामायिक व्रत की नाना प्रकार से व्याख्या करने पर भी फलितार्थ यह निकलता है कि नियम समय तक एकान्त में बैठकर आत्मचिन्तवन करना यह सामायिक है।

यह सामायिक शिक्षाव्रत तीसरी सामायिक प्रतिमा के लिए अभ्यासरूप है। इस शिक्षाव्रत में दिन में तीन बार सामायिक होना चाहिए। अगर इस प्रकार नहीं बने तो कम से कम दिन में एक बार तो अवश्य ही होना चाहिए।

यह सामायिक पाँच महाव्रतों को पूर्ण करने का कारण है इसलिए प्रतिदिन आलस्य रहित होकर एकचित्त से इस सामायिक का अभ्यास बढ़ाना चाहिए।

सामायिक में आरम्भ सहित सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग हो जाता है। इस कारण उस समय पर गृहस्थ भी उपसर्ग से ओढ़े हुए कपड़े सहित मुनि की तरह उत्तम भाव को प्राप्त होता है।

सामायिक की विधि–

मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्धं पर्यङ्कबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा, समयं जानन्ति समयज्ञाः॥98॥

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

सामायिक करने के लिए उद्यत व्रती सबसे पहले केश बंधन करे। मुष्ठि और वस्त्र में बंधन कर प्रतिज्ञा करे कि इनके खुलने तक मैं आत्मविचार या सामायिक करूँगा। इसी प्रकार पर्यंक आसन पद्मासन आदि आसनों में बैठकर बैठक का नियम भी कर लेवे, इसी का नाम सामायिक है।

सामायिक में चित्त की चञ्चलता न हो इसके लिए स्त्री, नपुंसक पशु, बालक आदि से रहित निरुपद्रवी एकान्त जिनमन्दिर, वन, घर आदि स्थान में सामायिक करने के लिए व्रती बैठे, क्योंकि उस समय शान्त चित्त का होना आवश्यक है।[1]

संसार सम्बन्धी मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को छोड़कर यथासंभव प्रतिदिन त्रिसंध्या काल में समताभाव की सिद्धि के लिए समताभाव से सामायिक करना चाहिए, सामायिक करते समय काष्ठ या पाषाण मूर्ति के समान निश्चल बैठे। इधर-उधर न देखे, पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयाभिलाषाओं का परित्याग करे, चेतनाचेतन पदार्थों में रागद्वेष का त्याग कर समताभाव का आश्रय करे, नासाग्रदृष्टि रखकर परमात्म स्वरूप का चिन्तवन, परमेष्ठी गुणस्मरण, द्वादशानुप्रेक्षा, षोडश-भावना, दशभक्ति, चतुर्विंशतिस्तवन आदि करते हुए सामायिक में आत्मनिरीक्षण करे।

यदि कोई प्रश्न करे कि इस प्रकार सामायिक तो अत्यन्त दु:साध्य है, इसका पालन गृहस्थ अवस्था में कैसे हो सकता है? उसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि—इस प्रकार की सामायिक दु:साध्य होते हुए भी अभ्यास के प्रभाव से सरल हो जाती है। जैसे जल भरने वाली स्त्रियों की रस्सी कितनी नरम और कोमल होती है और उससे कुएँ में बड़े-बड़े पत्थरों के अन्दर खड्डे पड़ जाते हैं। क्योंकि बार-बार के अभ्यास से महादु:साध्य कार्य भी सरल सहज हो जाते हैं। अभ्यास ऐसी ही वस्तु है।

सामायिक को प्राप्त होने वाले मौनधारी गृहस्थ को अचल योग सहित शीतल, उष्ण, डांस मच्छर आदि परीषह तथा उपसर्ग को सहन करना चाहिए एवं ऐसी भावना करना चाहिए कि मैं एक हूँ, अशरण हूँ, इस दु:खमय संसार में कर्मों के वशीभूत होकर दु:ख उठा रहा हूँ। मेरा स्वरूप तो श्री सिद्ध भगवान् के समान है सिद्ध भगवान में और मेरे स्वरूप में शक्ति और व्यक्ति का ही अन्तर है। अन्य किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। मैं निराकुल, नित्य हूँ, जिसका अनन्त काल तक कदापि भी विनाश नहीं हो सकता। परन्तु मैंने अशुभाव परिणामों से जो पूर्व में कर्मोपार्जन किए हैं, उनसे चतुर्गतिरूप संसार

---

1. एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेत्रे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया।।99।। रत्नकरण्डकश्रावकाचार

में भ्रमण कर रहा हूँ।

इस प्रकार विचार करते हुए इस संसार से छूटने का उपाय सोचना चाहिए, आत्मा का स्वरूप इस शरीर के स्वरूप से सर्वथा भिन्न है, इसका भी विचार करना चाहिए।

सामायिक आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति योग्य केवल ज्ञान और चारित्र को प्राप्त कराकर चतुर्गतिरूप भ्रमण को नष्ट करती है। अर्थात् सामायिक उत्कृष्ट मुक्ति का कारण है, मुक्ति की इच्छा रखने वाले व्रती श्रावक आलस्य छोड़कर प्रातः काल व संध्या काल सामायिक अवश्य करें। यथाशक्ति मध्याह्न काल में सामायिक करें। वस्तुतः मुक्ति के लिए साक्षात् कारण चारित्र है, चारित्र की प्राप्ति के लिए सामायिक कारण है, चारित्र में भी सामायिक के लिए प्रथम स्थान है।

सामायिक करते समय परीषह वगैरह उपस्थित होवे, तो वह व्रती साधक ऐसा विचार करे कि अनन्तज्ञानादि सुख स्वरूपी होने से मेरी आत्मा मोक्ष रूप है, अनाकुल है, चेतन है, नित्य है। शुभ कारणों से उत्पन्न होने से वह आत्मा और मोक्ष शुभ है, आयामों से रक्षणकर आत्मोपाय की प्राप्ति कराने वाला है अतः शरण है। संसार इससे विपरीत स्वभाव वाला है, मैं संसार में जब तक हूँ, तब तक मुझे परीषह नहीं सतायेंगे तो और क्या होगा? वह अपने स्वभावानुसार कष्ट देंगे। मुझे भी अपने स्वभाव में स्थिर रहना चाहिए इस प्रकार का विचार करने से इस आत्मा को उन परीषहों से कष्ट नहीं होगा, और वह अपनी आत्म परिणति में मग्न हो सकेगा।

सामायिक करते समय सर्व सावद्य योग का त्याग होने से हिंसादि सर्व पापों से सर्वथा निवृत्त होने से वह महाव्रतधारी मुनि के समान होता है।[1] उस समय को, आरम्भ परिग्रह उसके परिणामों में नहीं होते, अथवा आरम्भ परिग्रह को हेय समझता है।

परिणामों में समताभाव की वृद्धि के लिए श्रावकों को शक्ति अनुसार सामायिक अवश्य करना चाहिए।

---

1. सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्।।102।। रत्नकरण्डकश्रावकाचार

सामायिक व्रत के पाँच अतीचार–

वाक्कायमानसानां दु:प्रणिधानान्यनादरास्मरणे।
सामायिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन॥105॥

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

वाग्दु:प्रणिधान–सामायिक करते समय मंत्रों का अशुद्ध उच्चारण करना एवं संसार सम्बन्धी वचनों का उच्चारण करना यह वाग्दु:प्रणिधान है।

कायदु:प्रणिधान–सामायिक करते समय काय से सावद्य में प्रवृत्त होना। हाथ, पैर आदि अवयवों को हिलाना, कायदु:प्रणिधान है।

मनोदुष्प्रणिधान–सामयिक करते समय क्रोध, लोभ, भय, द्रोह, अभिमान आदि परिणामों से उत्पन्न होने वाले मनोविकार का उत्पन्न होना अथवा कार्य बहुलता से मन में नाना प्रकार के सम्भ्रमों का उदय होना मनोदुष्प्रणिधान है।

अनादर–सामयिक में उत्साह नहीं होना, निश्चित काल में सामायिक नहीं करना, किसी तरह पूर्ति करना, भोजन की इच्छा से शीघ्रता से सामायिक करना यह सब अनादर है। सामायिक में नाना प्रकार के चञ्चल विचारों के उपस्थित होने पर चित्त की स्थिरता के लिए प्रयत्न कर, जाने दो अब फिर बैठेंगे ऐसा विचार करना अनादर है।

अस्मरण–सामायिक में मन की एकाग्रता का न होना अस्मरण या स्मृत्यनुपस्थापन है। सामायिक के समय को भूल जाना, चित्त चाञ्चल्य से विधि को भूलना, सामायिक कर ली है या नहीं इस बात को भूल जाना, यह सब अस्मरण अतीचार है। व्रतानुष्ठान का स्मरण करना यह मोक्षमार्ग के अनुष्ठान के लिए प्रधान कारण है। इसलिए व्रतानुष्ठान की विस्मृति होना, यह आत्मा को व्रतानुष्ठान की अन्त:वृत्ति से च्युत करता है। अत: सामायिक में विस्मृति नाम का अतीचार त्याज्य है।

उपर्युक्त अतीचारों के कारण सामायिक व्रत का एकदेश भंग होता है, सर्वथा सामायिकव्रत का अभाव नहीं होता है। अभ्यास दशा में जब सामायिक अतीचार रहित होता है तभी वह व्रती आगे की प्रतिमा को धारण करने के लिए योग्य होता है, इसलिए सामायिकव्रत की निर्दोषता के लिए व्रती, सामायिकव्रत के पाँच अतीचारों का त्याग अवश्य करें।

सामायिकव्रत में चित्त स्थिर करना सरल नहीं है, परन्तु नित्य प्रति अभ्यास करने से चित्त में एकाग्रता आ जाती है। अभ्यास के बल से पत्थर में भी निशान पड़ जाता है।

करत करत अभ्यास बहु, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जावते, शिल पर परत निशान॥

प्रोषधोपवासव्रत

स प्रोषधोपवासो यच्चतुष्पर्व्यां यथागमम्।
साम्यसंस्कारदाार्ढ्याय चतुर्भुक्तयुज्झनं सदा॥

5/33 सागारधर्मामृत

चार पर्व के दिनों में आगमानुसार प्रोषधोपवास करना अर्थात् साम्यभाव की दृढ़ता के लिए चारों ही प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोषधोपवास कहलाता है।

खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय के भेद से आहार चार प्रकार का है, प्रोषध शब्द का अर्थ एक भुक्ति है। चारों ही प्रकार के आहारों का त्याग उपवास है। धारणा के दिन एक भुक्ति अर्थात् सप्तमी और त्रयोदशी के रोज एकभुक्ति। प्रोषध और पर्व दिन में, अष्टमी चतुर्दशी का उपवास एवं पारणा के दिन अर्थात् नवमी और पूर्णिमा के रोज एक भुक्ति इसका नाम प्रोषधोपवास है, अथवा पर्व के दिन उपवास और सप्तमी तथा अमावस्या को एकभुक्ति इसका नाम प्रोषधोपवास है, अथवा पर्व के दिन उपवास करने का नाम भी प्रोषधोपवास है।

प्रोषधोपवास उत्तम, मध्यम व जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है, पर्व के दिन चारों प्रकार के आहारों का त्याग करना उत्कृष्ट प्रोषधोपवास है। यदि उसे करने की शक्ति न हो तो पानी को छोड़कर इतर सर्व आहारों का त्याग कर अनुपवास करें। अनुपवास करने की भी शक्ति नहीं है वे आचाम्ल निर्विकृति करें।

काञ्जी सहित भात के भोजन को आचाम्ल आहार कहते हैं। अर्थात् काञ्जिकाहार निर्विकृति का अर्थ विकार रहित आहार, गोरस, इक्षुरस, फलरस, धान्यरस आदि के ग्रहण करने से जीभ व मन में विकार उत्पन्न होता है, इसलिए ऐसे पौष्टिक विकार पैदा करने वाले पदार्थों को छोड़कर काञ्जिकाहार ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से कहे गए प्रोषधोपवास का अनुष्ठान करना चाहिए।

उपवास के रोज जिनेन्द्र पूजा, स्वाध्याय, जप, सामायिकादि करते हुए धर्मध्यान से अपना समय व्यतीत करना चाहिए। निद्रा, तन्द्रा, खेल, तमाशा, हास्य, विनोद, मनोविनोदादि में उस व्रती को रत नहीं होना चाहिए। उपवास शब्द का अर्थ ही आत्मा के निकट में वास करना है। अन्यत्र चित्तवृत्ति की प्रवृत्ति उपवास नहीं हो सकता है।

प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतीचार

ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोषधोपवासव्यतिलंघनपञ्चकं तदिदम्॥110॥

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

बिना देखे, बिना शोधे जमीन से पुस्तक इत्यादि का ग्रहण करना, बिना शोधे जमीन पर मलमूत्रादि का विसर्जन करना, बिना देखे बिना शोधे जमीन पर चटाई आदि को बिछाना, उपवास के सम्बन्ध में उत्साह न होते हुए किसी प्रकार अनादर से उसकी पूर्ति करना, क्षुधादि के कारण से प्रोषधोपवास में चित्त की एकाग्रता न होना, किंवा प्रोषधोपवास का स्मरण न होने से आगे पीछे करना, यह सब प्रोषधोपवास व्रत में अतीचार हैं।

उपवास के रोज प्राणी पीड़ा परिहार करना आवश्यक है, उपर्युक्त अतीचारों के कारण इतर प्राणियों का घात होने की संभावना है, इसलिए उससे अपने को बचाना चाहिए।

उपवास के रोज क्रोधादि कषायों को मन्द करना चाहिए, जिनमन्दिर आदि निरवद्य स्थानों में रहकर आत्मसाधना करनी चाहिए, पञ्च पाप, शरीरालंकार, सुगन्धित द्रव्य, तेल, इत्र, फुलेल आदि, भोगस्नान, अञ्जन, नस्य आदि का परित्याग कर आलस्य रहित होते हुए वह श्रावक उत्साह पूर्वक धर्मामृत का पान करें, दूसरों को भी धार्मिक परिणामों से अपने समय को व्यतीत करें।

अतिथिसंविभागव्रत

व्रतमतिथिसंविभागः पात्रविशेषाय विधिविशेषेण।
द्रव्यविशेषवितरणं दातृविशेषस्य फलविशेषाय॥4/41॥

सागारधर्मामृत

अर्थात् पात्र विशेष के लिए विधि विशेष के साथ द्रव्य विशेष का प्रदान करना जिसमें दातृ विशेष के लिए फल विशेष की प्राप्ति हो, वह अतिथिसंविभागव्रत कहलाता है।

अतिथिसंविभागव्रती श्रावक प्रतिदिन भोजन के पहले अतिथि की प्रतीक्षा करे, अतिथि के न मिलने पर भी उसे भावना से अतिथियों के दान के फल का लाभ हो जाता है।

संविभाग पद में सम् इस पद से सम्यक् रूप से 'निर्बाध रूप से, निर्दोष रूप से ऐसा अर्थ लेना चाहिए, वि पद विशेष ऐसा अर्थ लेना चाहिए और 'भाग' पद से हिस्सा अर्थ लेना चाहिए। इससे अपने लिए बनाये हुए भोजन के अंश का अतिथि के लिए हिस्सा रखना वह अतिथिसंविभाग कहलाता है। सुयोग्य अतिथि के लिए सुयोग्य दाता द्वारा योग्य द्रव्य देने से सुयोग्य फल की प्राप्ति होती है, इसलिए अतिथिसंविभागव्रत श्रावक के लिए आवश्यक है। जिनको तिथि, पर्वोत्सव आदि का कोई विचार नहीं है वे अतिथि कहलाते हैं, जिस प्रकार उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से विभक्त पात्रदान देने वाले, दिलाने वाले और अनुमोदन करने वालों को इस संसार से पार कर देते हैं।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र से युक्त तपस्वी मुनि उत्तम पात्र कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन ज्ञान के साथ देश संयम को धारण करने वाले श्रावक मध्यम पात्र कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन ज्ञान सहित अपितु व्रत रहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं।

ज्ञान, तप, संयम, चारित्रादि की सिद्धि का साधन यह शरीर है। शरीर की स्थिति का कारण आहार है। आहार के बिना शरीर की स्थिति नहीं हो सकती है। इसलिए साधु जन दाता के निमंत्रण के बिना ही ईर्या समिति से श्रावक के घर आते हैं, उनकी मार्ग प्रतीक्षा करने वाला श्रावक उन्हें सप्तगुण और नवविध भक्ति से युक्त पात्रदान रूप दाता है, उसे अतिथिसंविभागव्रत कहते हैं।

दाता के सात गुण बतलाये गए हैं, श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, विज्ञान, अलोभता, क्षमा और सत्व ये दाता के सात गुण हैं।

पात्रदान से मेरा इस लोक और परलोक में कल्याण होगा, यह श्रद्धा

उसके हृदय में होनी चाहिए, जिस पात्र को वह दान दे रहा है उसके प्रति उसकी प्रगाढ़ भक्ति होनी चाहिए, दान देते समय अंतरंग में परम संतोष की अभिव्यक्ति होना तुष्टि है, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानकर योग्य आहार दान की सर्व विधि का ज्ञान जिसे है, उसे विज्ञान कहते हैं। ख्यातिलाभ पूजादि ऐहिक लाभ लोभादि से रहित होकर पात्र को दान देना, यह अलोभता है, दान देते समय क्रोधादि कषायों की मन्दता होना क्षमा है। स्वयं विशेष धनिक न होने पर भी उत्साह के साथ दान देना सत्व है।

इस प्रकार सात गुणों से युक्त दाता उपर्युक्त पात्र विशेष का नवधा भक्ति से दान देवें, नवधा भक्ति क्या है?

प्रतिग्रह–आहार के लिए पात्र के आने पर 'भो स्वामिन!' नमोस्तु अत्र तिष्ठ-तिष्ठ–कहकर पात्र को ठहरा, पात्र का स्वागत करना प्रतिग्रह कहलाता है।

उच्चस्थान–जब पात्र ठहर जाये भूमि शुद्धिपूर्वक अन्दर ले जाकर निर्दोष व निर्बाध उच्च आसन पर (पाटा पर) बैठावें उसका नाम उच्चासन है।

अंघ्रिक्षालन–भक्तिपूर्वक पात्र के पादों को धोने का नाम अंघ्रिक्षालन कहलाता है।

अर्चा–जल गन्धादि अष्ट द्रव्यों से पूजा करना यह अर्चा है।

आनति–पात्र को भक्ति से पञ्चांग नमस्कार करना आनुति है।

मनःशुद्धि–मन में खेद खिन्नादि से रहित परिणति को मनःशुद्धि कहते हैं।

वचनशुद्धि–परुष कर्कश आदि वचनों का उच्चारण न करना वचनशुद्धि कहलाती है।

कायशुद्धि–शरीर की शुद्धि तथैव विनयादि व्यवहार कायशुद्धि कहलाती है।

आहारशुद्धि–यत्नपूर्वक शोधकर आगमोक्त क्रम से तैयार किया हुआ निर्दोष आहार का नाम आहारशुद्धि है, इस प्रकार अतिथिसंविभागव्रत में यह नवधा भक्ति है। इनमें जितने अंश में आदर व भक्ति की अधिकता होगी,

उस अंश में विधि में विशेषता आती है, मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदना की शुद्धि से दातृ विशेषता होती है। इसी प्रकार साधुओं की आहार के अलावा औषध, आवास, पुस्तक, पिच्छिका आदि का भी दान करें, यह द्रव्य विशेष में गर्भित है जिस द्रव्य में ग्रहण करने से रागद्वेष असंयम मद आदि आत्म विकार उत्पन्न न हों, तथा जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के पोषक हो, उसे द्रव्य विशेष कहते हैं।

गृहस्थ को नाना प्रकार के आरम्भों को करते समय पाप का संचय होता है। प्रतिनित्य खंडनी पेषणी, (पीसना) चुल्ली, उदकुंभी, प्रमार्जनी, इस प्रकार पञ्चसूना सम्बन्धी पापों का अर्जन होता है, इसलिए वह कर्मबंधन से मुक्त नहीं होता है, उससे मुक्त होने के लिए एक मात्र दान कार्य ही साधन है। आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने भी कहा है–

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि।।114।।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

अर्थात् निश्चय से जिस प्रकार जल खून को धो देता है उसी प्रकार गृह रहित निर्ग्रन्थ मुनियों के लिए दिया हुआ दान गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों से उपार्जित अथवा सुदृढ़ कर्म को नष्ट कर देता है।

दान चार प्रकार से विभक्त है, आहारदान, अभयदान, औषधदान और शास्त्रदान।

पात्र भेद को जानकर विधिपूर्वक शुद्ध निर्दोष आहार का दान करना आहारदान है।

संसार के प्राणियों के संसार सम्बन्धी भय को दूर करना, उन्हें सांत्वना देना, कष्ट में सहायता करना आदि अभयदान है।

राग व्याधि से पीड़ित साधुओं को निर्दोष औषधि का दान देना औषधदान है।

ज्ञानार्जन के निमित्त शास्त्र पुस्तक आदि दान देना एवं साधुओं के अध्ययन की व्यवस्था करना आदि ज्ञानदान है।

इस अतिथिसंविभाग को अन्य आचार्यों ने वैयावृत्य के नाम से

प्रतिपादन कर उसमें साधुओं की सेवा सुश्रूषा करने का आदेश दिया है, उसी में दान का भी अन्तर्भाव किया है। दान कार्य से परिग्रह का वियोग, वैभव की प्राप्ति, आत्म संतोष एवं सर्वोच्च अभयदान देने की सामर्थ्य हो जाती है। यह उपार्जित अथवा सुदृढ़ कर्म को भी नष्ट कर देता है।

अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतीचार–

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः।

तत्त्वार्थसूत्र 7/36

सचित्तनिक्षेप–आहार दान देते समय आहार द्रव्य को सचित्त पद्मपत्रादि में रखकर देना यह सचित्तनिक्षेप नाम का अतीचार है।

सचित्तापिधान–सचित्त कमल पत्रादि से उन आहार द्रव्यों को ढकना यह सचित्तापिधान नामक अतीचार है।

परव्यपदेश–यह देय पदार्थ मेरे अमुक सम्बन्धी का है, इसका पुण्य उसे लगना चाहिए, इतना और लीजिए इत्यादि कह कर आहार देना परव्यपदेश नाम अतीचार है।

मात्सर्य–मत्सर शब्द का अर्थ कोप या ईर्ष्या है, पात्र की प्रतीक्षा में क्रोध करना कि मैं खड़ा होता हूँ, परन्तु घर पर कोई पात्र आता ही नहीं। पात्र के आने पर भी अपने पास के पदार्थ को छिपाकर रखना भी मत्सर है, अन्य दाता के गुणों को सहन न करना भी मत्सर है, अथवा दूसरे दानी के प्रति यह विचार करना कि बड़ा दानी आया है मैं इससे क्या कम हूँ, इत्यादि के विचार से दान देना मत्सर है।

कालातिक्रम–पात्र के आहार के लिए उचित काल का उल्लंघन करना कालातिक्रम है। आहार के काल से पहले या पीछे प्रतीक्षा के लिए खड़े होना भी कालातिक्रम है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अतिथिसंविभागव्रत को वैय्यावृत्य शब्द से व्यवहृत किया है। उसके अन्तर्गत जिनेन्द्र पूजन को भी गर्भित किया है किन्तु अतीचार वर्णन प्रकरण में दान की दृष्टि से ही प्रतिपादन किया है उनके द्वारा वर्णित वैय्यावृत्य (अतिथिसंविभागव्रत) के अतीचार इस प्रकार हैं–

हरितापिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।
वैय्यावृत्त्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते॥121॥

रत्नकण्डकश्रावकाचार

अर्थात् निश्चय से हरित पत्र आदि से आहार में देने योग्य वस्तु को ढकना तथा हरित पत्र पर दान योग्य वस्तु को रखना, अनादर, अस्मरण और मत्सरत्व ये पाँच वैय्यावृत्य (अतिथिसंविभागव्रत) के अतीचार कहे हैं।

इस प्रकार पाँच अतीचारों को टालकर निर्दोष रूप से अतिथिसंविभाग व्रत का पालन करना चाहिए।

इस प्रकार पञ्च अणुव्रत और उनके पोषक व रक्षक गुणव्रत शिक्षाव्रतरूपी सप्तशीलों को पालन करने वाला श्रावक होता है।

गुणव्रत और शिक्षाव्रतों को शील संज्ञा दी गई है, क्योंकि शील उसे कहते हैं, जो यथार्थ में अपने स्वरूप में ही रमण करे, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप सप्तशील अणुव्रतों को महाव्रतों के रूप परिणमन कराने में सहायक होते हैं जब अणुव्रत महाव्रत रूप में परिणमित होंगे तभी आत्मा अपने निज स्वरूप चैतन्यता को पहचान सकेगी।

बारह व्रतों को पालन करने वाला जैन श्रावक होता है, परन्तु बाह्यरूप आकार प्रकार का ही नाम व्रत नहीं है, इन व्रतों में बाह्य आचरण व अंतरंग की शुद्धि दोनों अपेक्षित हैं, जिस घड़े से हम जल पीते हैं उसके बाहर भीतर निर्मलता की आवश्यकता है इसी प्रकार व्रतों के आचरण में बाह्य आचार के साथ-साथ आत्मीय शुद्धता का भी विचार अवश्य होना चाहिए।

उक्त 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत, 4 शिक्षाव्रतरूप बारह व्रतों का निर्दोष आचरण करते हुए आयु के अन्त में समाधिमरण धारण करने से सागारधर्म की पूर्णता होती है जैसा कि कहा भी है–

सम्यक्त्वममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानिमरणान्ते।
सल्लेखना च विधिना, पूर्णः सागारधर्मोऽयम्॥1/12

सागारधर्मामृत

निर्मल सम्यक्त्व, निर्दोष अणुव्रत, गुणव्रत व शिक्षाव्रत एवं मरण के अन्त समय में सल्लेखना को धारण करना यह पूर्ण सागारधर्म है।

आयु इन्द्रिय बल आदि प्राणों का ह्रासरूपी क्षुद्र मरण तो प्रतिसमय होता रहता है, परन्तु अन्त समय में पर्याय परिवर्तन का जो मरण होता है, उसका नाम महामरण है, महामरण के समय सल्लेखना की साधना भद्र साधक का कर्तव्य है, साधक का लक्षण करते हुए पण्डित आशाधर जी लिखते हैं–

देहाहारेहितत्यागात्ध्यानशुद्धयाऽत्मशोधनम्।
यो जीवितान्ते सम्प्रीतः साधयत्येष साधकः।।9/8

सागारधर्मामृत

जो जीवन के अन्त में ध्यान से उत्पन्न सर्वांगीण आनन्द से युक्त होकर देह, आहार और मन, वचन तथा काय के व्यापार के त्याग से उत्पन्न ध्यानशुद्धि अर्थात् निर्विकल्प समाधि के द्वारा आत्मशुद्धि की साधना करता है, वह साधक है।

सल्लेखना

सम्यक् रूप से कषाय व काय को कृष करने का नाम सल्लेखना है। उक्तञ्च–

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतिकारे।
धर्माय तनुर्विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।।122।।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

निष्प्रतीकार उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बृद्धपना अथवा रोग के आ जाने पर धर्म की रक्षा के लिए जो शरीर का त्याग किया जाता है। उसे आर्य पुरुषों ने सल्लेखना कहा है।

अपनी निष्प्रतीकार स्थिति जानकर व्रती साधक को आगमानुसार सल्लेखना को ग्रहण करना चाहिए। जैसा कि कहा है–

सल्लेखनां करिष्येऽहं विधिना मारणान्तिकीम्।
अवश्यमित्यदः शीलं सन्निदध्यात्सदा हृदि।।7/57

सागारधर्मामृत

मैं शास्त्रोक्त विधिपूर्वक मरण के समय होने बाली सल्लेखना को अर्थात् सम्यक् प्रकार से काय और कषायों के बीच करने के कार्य को अवश्य ही करूँगा। इस प्रकार इस सल्लेखनाव्रत को धारण करे।

सल्लेखना की विधि–अपने कुटुम्बियों और मित्रों से स्नेह को छोड़कर, शत्रुओं से बैर को भी छोड़कर सांसारिक आरम्भ और परिग्रह को छोड़कर शुद्ध मन होकर स्वजन और परिजनों को क्षमाकर, प्रिय जनों से अपने को क्षमा करावे। पुनः अपने जीवन में किए सर्व पापों की मन वचन, काय से और कृत कारित अनुमोदना से निश्छल भावपूर्वक आलोचना करके मरणपर्यन्त स्थायी रहने वाले समस्त महाव्रतों को धारण करे। पुनः शोक, भय, विषाद, क्लेश, कलुषिता और अरति को भी छोड़कर बल-वीर्य और उत्साह को प्रकट कर अमृतमयी शास्त्रवचनों से मन को प्रसन्न करना चाहिए। पुनः खाद्य, स्वाद्य और लेह आहार को क्रमशः छोड़कर स्निग्ध पान को बढ़ावे, अर्थात् केवल दुग्धादि पीकर रहे। पुनः क्रम से स्निग्ध पान को भी छोड़कर क्रम से खर पान को बढ़ावे, अर्थात् छांछ, कांजी, सोंठ आदि के जल से उष्ण जल पर निर्भर रहे। क्रम से खर पान का भी त्याग करके शक्ति के अनुसार कुछ दिन उपवासों को भी करके पञ्च नमस्कार मन्त्र का चिन्तवन करते हुए पूर्ण सावधानी के साथ शरीर का परित्याग करे।

सल्लेखना इन व्रतों का कलश है। जैन साधक जीवन को जिस प्रकार साधता है, उसी प्रकार मरण को भी साधता है, मरण का आनन्द से स्वागत करता है। तभी इसे मृत्यु महोत्सव कहा जाता है।

इसमें कषाय, विकृति, मोह, रागादि परिणति, आकुलता व संक्लेश का अभाव होने से यह आत्मघात नहीं है। जैसा कि कहा गया है–

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावना परिणतो नागतमपि पालेयदिदं शीलम्॥

उद्धृत जैनधर्मा॰

अवश्य ही मरण के होने पर कषाय सल्लेखना के कृशीकरण मात्र व्यापार में प्रवर्तनमान पुरुष के रागादिभाव के बिना आत्मघात नहीं है। आत्मघात में अन्तःपीड़ा, अतृप्ति आदि भावना होती है।

जो कषायों से अभिनिविष्ट पुरुष श्वांसनिरोध, जलप्रवेश, अग्निप्रवेश, विषभक्षण और शस्त्र के प्रहार से अपने प्राणों को पृथक् कर देता है उससे वस्तुतः आत्मघात होता है। कषायपूर्वक प्राणघात करने वाला मनुष्य ही आत्मघाती है, संन्यासमरण वाला नहीं।

संन्यासमरण में हिंसा की कारणभूत कषायों को क्षीण किया जाता है। अतः सल्लेखना अहिंसा धर्म की रक्षा का साधन है मरण के समय संन्यास धारण करना ही जीवन भर की तपस्या का फल है। जिस मनुष्य ने सम्पूर्ण जीवन धर्मामृत का पान किया है और अन्तिम समय समाधिमरण किया है वह स्वर्गीय सुख को प्राप्त करता हुआ भवान्तरों में मुक्ति पथ का आरोहण कर अगम अपार निश्रेयस सुख की प्राप्ति करता है।

अर्थात् इस प्रकार जीवन के अन्त समय में सल्लेखना को आगमोक्त प्रकार से साधने पर यह जीव परमात्मा पथ के प्रयास का पथिक बन जाता है, इसलिए इसे सागारधर्म की पूर्णता कही गई है।

एकादश प्रतिमाओं का वर्णन

श्रावक बारह व्रतों का भली प्रकार पालन करता हुआ उत्तरोत्तर विकासोन्मुख रहता है। उसके क्रमिक विकास सम्बन्धी एकादश सोपान हैं जो आचार्यों के द्वारा प्रतिमा या श्रावकपद नाम से कहे गए हैं। इन एकादश प्रतिमाओं में से दशवीं प्रतिमा तक श्रावक घर में रहते हुए धर्माचरण कर सकता है। किन्तु ग्यारहवीं प्रतिमा का धारी निश्चित रूप से गृहत्यागी होता है। प्रत्येक प्रतिमा के साथ पूर्व प्रतिमा के गुण नियम से होते हैं अर्थात् आगामी प्रतिमा वाले के लिए पूर्व प्रतिमा सम्बन्धी गुण का धारण करना अनिवार्य है। क्रमशः प्रतिमाओं का संक्षेप स्वरूप आचार्य समन्तभद्र स्वामी के अनुसार प्रस्तुत किया जा रहा है–

दर्शनप्रतिमा–जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त है, पञ्च परम गुरुओं के चरणों की शरण को प्राप्त है और सत्यमार्ग के ग्रहण करने वाला या पक्षवाला है, वह दर्शनप्रतिमा का धारी दार्शनिक श्रावक है।

व्रतप्रतिमा–जो श्रावक माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्यों से रहित होकर निरतिचार अर्थात् अतीचार-रहित निर्दोष रूप से पाँच अणुव्रत और सात शीलव्रतों को धारण करता है, वह व्रती पुरुषों के मध्य में व्रतप्रतिमाधारी व्रतिक श्रावक माना गया है। प्रथम प्रतिमा में तीन शल्यों का अभाव नहीं होता है और अणुव्रतों में कदाचित् अतीचार लगते हैं किन्तु दूसरी प्रतिमा में आते ही इसकी तीनों शल्यें छूट जाती हैं और पाँच अणुव्रतों का

निरतिचार पालन होने लगता है। तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का भी यह पालन करता है परन्तु इनके पालन में कदाचित् अतीचार लगते हैं। यही दर्शन और व्रत प्रतिमा में अन्तर है।

सामायिकप्रतिमा—जो चार बार तीन-तीन आवर्त, और चार प्रणाम करके यथाजात बालक के समान निर्विकार बनकर खड़गासन या पद्मासन से बैठकर मन-वचन-काय शुद्ध करके तीनों संध्याओं में देव-गुरु-शास्त्र की वन्दना और प्रतिक्रमण आदि करता है, वह सामायिक प्रतिमा धारी श्रावक कहलाता है।

प्रोषधप्रतिमा—प्रत्येक मास की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चारों ही पर्वों में अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर सावधान हो प्रोषधोपवास करने वाला प्रोषधनियम-विधायी श्रावक कहलाता है।

सचित्तत्यागप्रतिमा—जो दया-मूर्ति श्रावक कच्चे कन्द, मूल, फल, शाक, शाखा, कैर, कन्द, फूल और बीजों को नहीं खाता है, वह सचित्तत्याग प्रतिमाधारी कहलाता है।

रात्रि-भोजनत्यागप्रतिमा—जो रात्रि में अन्न, पान, स्वाद्य और लेह्य इन चार प्रकार के आहारों को प्राणियों पर अनुकम्पाशील चित्त होकर नहीं खाता है, वह रात्रिभुक्तिविरत श्रावक है।

ब्रह्मचर्यप्रतिमा—जो पुरुष स्त्री के कामाङ्ग को यह मल का बीज है, मल की योनि है, निरन्तर मल गलता रहता है, दुर्गन्ध युक्त है, और वीभत्स है, इस प्रकार देखता हुआ उससे विरक्त होता है वह ब्रह्मचर्यप्रतिमाधारी श्रावक है।

आरम्भत्यागप्रतिमा—जो श्रावक जीवहिंसा के कारणभूत सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भ से विरक्त हो विश्राम लेता है, वह आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी है।

परिग्रहत्यागप्रतिमा—जो श्रावक क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, दासी, दास कुप्य और भाण्ड इन दस प्रकार के बाह्य परिग्रह में ममता को छोड़कर और निर्ममता में रत होकर आत्मस्थ हो सन्तोष को धारण करता है, वह बाह्य परिग्रह से विरक्त नवीं प्रतिमा धारक श्रावक है।

अनुमतित्यागप्रतिमा–जिस श्रावक की किसी प्रकार के आरम्भ में, अथवा परिग्रह में या ऐहिक कार्यों में अनुमोदना नहीं रहती है, उसे समबुद्धि अनुमतित्यागी श्रावक मानना चाहिए।

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा–जो श्रावक अपनपे घर से मुनिवन को जाकर गुरु के समीप में व्रतों को ग्रहण करके भिक्षावृत्ति से आहार करता है, चेलखण्ड को धारण करता है और रात-दिन तपस्या करता रहता है, वह उत्कृष्ट श्रावक है। वह अपने निमित्त बने हुए आहार को ग्रहण नहीं करता है, इसलिए इसे उद्दिष्टाहारत्यागी श्रावक कहते हैं।

उक्त ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवेचन गृहस्थधर्म की विशिष्टता के कारण किया गया है। इस ग्रन्थ का विवेच्य विषय प्रायः व्रतों का है। नित्य व्रतों का व्याख्यान हो चुका है, नैमित्तिक व्रतों को भी जानना आवश्यक है अतः उनका वर्णन किया जाता है।

व्रत विधान

जीव कर्मबंध के कारण संसारचक्र में घूम रहा है। कर्मों को पृथक् करने के लिए तपश्चरण की आवश्यकता है। तपश्चरण में अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के तप कर्म निर्जरा के कारण हैं। अनशन आदि बाह्य तपों के भार को हलका करता हुआ व्रती श्रावक महान् पुण्य का अर्जन करता है।

कायक्लेश नामक तप के अंतर्गत श्रावक के द्वारा प्रमुख रूप से रत्नत्रय, दशलक्षण, आष्टाह्निक पोडशकारण आदि व्रतों को करने से वह विषय भोगों से विरक्त होता है शुभास्रव को करता है और अशुभास्रव से बचता है आचार्य श्री वसुनन्दि ने भी कहा है–

फलमेयस्से भोत्तूण देव-मणुएसु इंदियजसुक्खं।
पच्छा पावइ मोक्खं थुणिज्जमाणोसुरिदेहिं॥378॥

वसुनन्दिश्रावकाचार

अर्थात् व्रत विधान के फल से यह जीव देव और मनुष्यों में इन्द्रिय जनित सुख भोगकर पीछे देवेन्द्रों से स्तुति किया जाता हुआ मोक्ष पाता है।

श्रावक के दैनिक आचरण के अन्तर्गत देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान से षड् आवश्यक का पालन करने हेतु आचार्यों ने व्रताचरण का विधान किया है। हिंसा आदि पापों से संकल्पपूर्वक निवृत होना और पात्र दान आदि शुभ कार्यों में संकल्प पूर्वक प्रवृत्ति करना ही व्रत है।

व्रत सर्वदा गुरु के सामने जाकर ग्रहण करना चाहिए, यदि गुरु न मिले तो किसी तत्त्वज्ञ विद्वान् ब्रह्मचारी आदि से व्रत लेना चाहिए। अथवा उनका सान्निध्य भी यदि न होवे तो जिनेन्द्रप्रतिमा के समक्ष व्रत लेना चाहिए। इसी प्रकार व्रत पूर्ण होने पर इन्हीं के साक्षी पूर्वक छोड़ना चाहिए। बिना साक्षी के व्रतों का यथार्थफल प्राप्त नहीं होता है। शास्त्रों में एक उदाहरण प्रसिद्ध है कि एक सेठ के यहाँ मकान बन रहा था, उसमें ईंट, चूना, सीमेंट आदि से मकान बनाने का कार्य कई मजदूर कर रहे थे। एक मजदूर बिना अपना नाम लिखाये काम करने लगा। दिन भर कठोर श्रम किया, सन्ध्या समय जब सबको मजदूरी दी जाने लगी तो वह सरल परिणामी मजदूर भी सबके साथ ही मजदूरी लेने मुनीम के सामने पहुँचा और कहने लगा–सरकार मैंने दिन भर सबसे अधिक श्रम किया है। अतः मुझे अधिक मजदूरी मिलनी चाहिए। मुनीम ने रजिस्टर में मिलाकर सभी नाम दर्ज मजदूरों को मजदूरी दे दी, परन्तु जिसने कठोर श्रम किया और अपना नाम रजिस्टर में दर्जन नहीं कराया था उसे मजदूरी नहीं दी। मुनीम ने कह दिया कि तुम्हारा नाम रजिस्टर में नहीं लिखा है, अतः मजदूरी नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार बिना गुरु की साक्षी से व्रत ग्रहण करना फलदायक नहीं है।

व्रतों के अनेक प्रकार हैं, सावधि, निरवधि, काम्य, अकाम्य इत्यादि। इनके भेद और प्रभेद सैकड़ों ही नहीं अपितु सहस्त्रों हो जाते हैं। इनमें से कतिपय व्रतों का विधान यहाँ पर किया जाता है।

रत्नत्रयव्रत और उसकी विधि

यह रत्नत्रयव्रत रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हेतु करते हैं। भाद्रपद, चैत्र और माघ मासों में यह व्रत किया जाता है।

इन महीनों में शुक्लपक्ष में द्वादशी तिथि को व्रत धारण करना चाहिए तथा एकाशन करना चाहिए। त्रयोदशी, चतुदर्शी और पूर्णिमा का उपवास करना, तीन दिन का उपवास करने की शक्ति न हो तो कांजी आदि लेना चाहिए। रत्नत्रयव्रत के दिनों में किसी तिथि की वृद्धि हो तो एक दिन अधिक व्रत करना एवं एक तिथि की हानि होने पर एक दिन पहले से लेकर व्रत समाप्ति पर्यन्त उपवास करना चाहिए।

व्रत ग्रहण करने का संकल्प

ओं अद्य भगवतो मते भाद्रपदमासे शुक्लपक्षे द्वादश्यां तिथौ जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे ..... संवत्सरे श्रीमत् अर्हत् परमेष्ठिसमक्षे, गुरुसमक्षे इदं रत्नत्रयव्रतं गृह्णामि, यथायोग्यसावद्यत्यागः व्रतदिनेषु मे।।

अर्थात् आज भाद्रपद मास की शुक्लपक्ष की द्वादशी तिथि को इस जम्बूद्वीप में स्थित भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में मैं अर्हत्परमेश्वर एवं गुरु की साक्षी से रत्नत्रयव्रत ग्रहण करता हूँ। व्रतों के दिनों में मेरा यथाशक्ति सावद्यक्रिया का त्याग है।

इस रत्नत्रयव्रत का मंत्र जाप यह है–**''ॐ ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेभ्यो नमः।''** यह तीनों संध्याओं में जपना चाहिए, इस प्रकार तेरह वर्ष तक इसको करना चाहिए। यह उत्कृष्ट विधि है। इतनी शक्ति नहीं हो तो आठ वर्ष करें और बेला से करे, यह मध्यम विधि है। यदि ऐसी शक्ति भी न हो तो त्रयोदशी और पूर्णिमा को एकाशन और चतुर्दशी को उपवास करना चाहिए यह जघन्य विधि तीन वर्ष या पाँच वर्ष तक करना चाहिए। इन व्रत के दिनों में ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। कोई भी व्रत हो कितने भी दिनों का हो ब्रह्मचर्य आवश्यक होता है। व्रत पूर्ण होने पर उद्यापन करना चाहिए।

रत्नत्रय-व्रत की कथा

समस्त व्रतों में प्रधान रत्नत्रयव्रत है। विधिपूर्वक इस व्रत के पालन करने से स्वर्गादि के सुखों को भोगकर व्यक्ति निर्वाण पद प्राप्त करता है। इस व्रत के पालन करने वाले राजा वैश्रवण की कथा निम्न प्रकार है।

सुदर्शन मेरु की दक्षिण दिशा में विदेहक्षेत्र के कच्छावती देश के मध्य वीत-शोकपुर नाम के नगर में वैश्रवण नाम का राजा धर्म और नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करता था। एक दिन वह नृपति वसन्तऋतु में वनविहार के लिए गया। यहाँ की प्रकृति की सुन्दरता को देखकर इसके मन में अनेक प्रकार की भावनाएँ उत्पन्न होने लगीं। इसी मानसिक द्वन्द के बीच उसकी दृष्टि पास में ही एक शिला पर ध्यानस्थ मुनिराज के ऊपर पड़ी। वह हर्ष विभोर हो मुनिराज के पास गया और विनययुक्त हो उनके चरणों के निकट नमोऽस्तु कहकर बैठ गया। मुनिराज ने धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया। पश्चात् राजा को सम्बोधित करते हुए उपदेश दिया–राजन्! मिथ्यात्व के कारण ही यह प्राणी संसार में परिभ्रमण करता है। मिथ्यात्व से ही नवीन कर्मों का आस्त्रव होता है तथा इसके कारण ज्ञान और चारित्र भी विपरीत होते हैं। सम्यग्दर्शन ही आत्मा को निज परिणति में रमण कराता है। अतः रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए सर्वदा प्रयास करना चाहिए। रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारण करने से ही मनुष्य जीवन में सुख-शान्ति प्राप्त करता है। रत्नत्रय शरण है, यही मोक्ष का मार्ग है। इस रत्नत्रय को जीवन में लाने के लिए रत्नत्रयव्रत का पालन करना चाहिए। व्रत क्रियारूप अनुष्ठान होता है, इसके पालन करने से जीवन में रत्नत्रय का स्फुरण होता है।

मुनिराज के इस उपदेश को सुनकर राजा वैश्रवण ने पुनः मुनिराज से कहा–'प्रभो'! मानव पर्याय की सार्थकता किसमें है? गृहस्थावस्था में रहकर व्यक्ति किस प्रकार धर्म का पालन कर सकता है। क्या उस रत्नत्रय व्रत को मुझ जैसे श्रावक भी धारण कर सकते हैं? इस व्रत को धारण करने का फल क्या है?

मुनिराज–'राजन्'! मानव पर्याय की सार्थकता धर्मसाधन में है। जो व्यक्ति इस अमूल्य पर्याय का उपयोग धर्मसाधन के लिए करता है, वह धन्य है। गृहस्थधर्म में रहकर भी व्यक्ति धर्म का पालन कर सकता है। यह आश्रम ही जीवन की तैयारी का क्षेत्र है। रत्नत्रय आत्मा का धर्म है अथवा यों कहना चाहिए कि आत्मा स्वयं रत्नत्रय स्वरूप है इस रत्नत्रय धर्म को श्रावक भी धारण कर सकता है। विधिपूर्वक धर्म का पालन करने से स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति होती है।

राजा वैश्रवण ने मुनिराज से रत्नत्रय व्रत ग्रहण किया। उसने 13 वर्षों तक यथाविधि इस व्रत का पालन किया। इसके पश्चात् उत्साहपूर्वक व्रत का उद्यापन कर दिया। रत्नत्रयव्रत के आचरण के कारण उस नृपति की आत्मा इतनी पावन हो गई कि उसे संसार नीरस दिखलायी पड़ने लगा। एक दिन उसे तूफान के कारण एक वृक्ष जड़ से उखड़ा हुआ दिखलायी पड़ा। विशालकाय वृक्ष का इस प्रकार पतन होते देख राजा सोचने लगा–''इस संसार में सभी मोहक पदार्थ विध्वंसशील हैं। यहाँ सभी पदार्थों की पर्यायें निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं। एक दिन मुझे भी मृत्यु के मुख में जाना पड़ेगा।''

अतः अब आत्मकल्याण का अवसर आ गया है, वह द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करने लगा, जिससे उसकी आत्मा वैराग्य से परिपूर्ण हो गई। उसने राजपाट छोड़कर दिगम्बर दीक्षा धारण की रत्नत्रयव्रत के अभ्यास के कारण उसकी आत्मा में अपरिमित शक्तियाँ आविर्भूत हो चुकी थीं। अपनी आयु का अन्तिम समय जान उसने समाधिमरण धारण किया, जिससे वह अपराजित विमान में अहमिन्द्र हुआ। पश्चात् वहाँ से चयकर मिथिलापुरी में महाराज कुम्भराज के यहाँ सुप्रभावती महारानी के गर्भ में मल्लिनाथ तीर्थंकर हो निर्वाणपद पाया।

व्रत विधान हो जाने पर उसके उद्यापन की विधि जान लेना आवश्यक है। सम्यक् प्रकार व्रतानुष्ठान के पश्चात् उद्यापन कर देने पर ही व्रतों का फल प्राप्त होता है। उद्यापन की विधि निम्न प्रकार है–

उद्यापन की विधि–इस व्रत का उद्यापन भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा को किया जाता है अथवा पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर भी किया जा सकता है। उद्यापन करने के दिन श्रीमन्दिर जी में जाकर सर्वप्रथम एक गोल चौकी या टेबिल पर रत्नत्रयव्रतोद्यापन का (मांडना) बनाना चाहिए। चौकी चार फुट लम्बी और इतनी ही चौड़ी होनी चाहिए। चौकी पर श्वेत वस्त्र बिछाकर लाल, पीले, हरे, नीले और श्वेत रंग के चावलों से मण्डल बनाना चाहिए। इसमें कुल 93 कोठे होते हैं। मण्डल गोलाकार बनता है। मण्डल के बीच में **'ओं रत्नत्रयव्रताय नमः'** लिखें, इसके पश्चात् दूसरा मण्डल सम्यग्दर्शन का होता है, इसके बारह कोठे हैं। तीसरा मण्डल सम्यग्ज्ञान का होता है, इसके 48 कोठे हैं। चौथा मण्डल सम्यक्चारित्र का होता है, इसके 33 कोठे हैं। विधिपूर्वक जल लाकर अभिषेक, स्वस्ति, सकलीकरण, मंगलाष्टक सहस्रनाम आदि स्वस्ति विधान के बाद रत्नत्रयव्रतोद्यापन की पूजा

करनी चाहिए।

पूजन के बाद निम्न संकल्प[1] (1) संकल्प में अक्षत, सुपारी, हल्दी, पीली सरसों और एक पैसा होना चाहिए। मंत्र पूर्वक व्रत पूर्ण करना चाहिए।

ओं अद्य भगवतो महापुरुषस्य श्रीमदादिब्रह्मणो मते त्रैलोक्यमध्यासीने मध्यलोके श्रीमदनावृतयक्षसंसेव्यमाने दिव्यजम्बूवृक्षोपलक्षितजम्बूद्वीपे महनीयमहामेरोदक्षिणभागे अनादिकालसंसिद्धभरतनामद्येयप्रविराजित- षट्खण्डमण्डितभरतक्षेत्रे सकलशलाकापुरुषसम्बन्धविराजितार्यखण्डे परमधर्म समाचरणअमुकप्रदेशे[2] अस्मिन् विनेयजनताभिरामे अमुकनगरे[3] अस्मिन् दिव्यमहाचैत्यालयप्रदेशे एतदवसर्पिणीकालावसाने प्रवृत्तचतुर्यशमनूपमान्वित- सकललोकव्यवहारे श्रीवृषभस्वामिपौरस्त्य- मङ्गलमहापुरुषपरिषत्प्रतिपादित परमोपशमपर्वक्रमे वृषभसेनसिंहसेन- वीरसेनादिगणधरस्वामिनिरूपितविशिष्ट- धर्मोपदेशे पञ्चमकाले प्रथमपादे महतिमहावीरवर्धमानतीर्थंकरोपदिष्ट- सद्धर्मव्यतिकरे श्रीगौतमस्वामि- प्रतिपादितसन्मार्गप्रवर्तमाने श्रेणिकमहामण्डलेश्वरसमाचरित सन्मार्गावशेषे अमुक संवत्सरे भाद्रपदमासे शुक्लपक्षे पूर्णिमायां तिथौ अमुकवासरे प्रशस्ततारकायोगकरणनक्षत्रहोरा- मुहूर्तलग्नयुक्त्याम् अष्टमहाप्रातिहार्य- शोभितश्रीमदर्हत्परमेश्वरसन्निधौ अहं ..... रत्नत्रयनामकव्रतं स्थापयामि। ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असि आ उसा सर्वशान्तिर्भवतु, सर्वकल्याणं भवतु श्रीं क्लीं नमः स्वाहा।

इसके अनन्तर पुण्याहवाचन, शान्ति, विसर्जन आदि को सम्पन्न करें।

उद्यापन की सामग्री—उद्यापन के लिए पूजन सामग्री, रत्नत्रय यन्त्र, तेरह शास्त्र मन्दिर के लिए तेरह पूजन के बर्तन, छत्र, चमर, झारी आदि मंगल द्रव्य, चँदोवा तथा नगदी रुपये दान देना चाहिए। यदि शास्त्र और पूजन के बर्तन तेरह-तेरह देने की शक्ति न हो तो कम से कम तीन अवश्य देने चाहिए। इस व्रत का उद्यापन तीन वर्षों में किया जाता है। पूजन में चढ़ने के लिए 93 चाँदी के स्वस्तिक, इतनी की सुपारियाँ, चार नारियल रहने चाहिए।

---

1. संकल्प में अक्षत्, सुपारी, हल्दी, पीली सरसों और एक पैसा होना चाहिए।
2. प्रदेश का नाम 3. गाँव का नाम।

ये नारियल प्रत्येक वलय की पूजा में चढ़ाने चाहिए। सुपारी, स्वस्तिक प्रत्येक अर्घ्य में लेना चाहिए। यह अर्घ्य मांडने के कोठे में चढेगा।

दशलक्षणव्रत और विधि

दशलक्षण व्रत भाद्रपद मास में शुक्लपक्ष की पञ्चमी से प्रारम्भ होता है। पञ्चमी से चतुर्दशी तक 10 दिन जिनमन्दिर में जाकर अभिषेक पूजन आदि करें पूजा के समय दशलक्षण यन्त्र स्थापित करें। दस दिन ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक होता है, उत्कृष्ट विधि दसों दिन उपवास करने की है। शक्ति नहीं होवे तो एकान्तर एक दिन उपवास एक दिन एकासन इस प्रकार करना चाहिए। यह मध्यम विधि है। जघन्य विधि पञ्चमी और चतुर्दशी का उपवास। बीच के आठ दिन एक बार आटा, घी आदि से तैयार किया हुआ भोजन करना चाहिए, वस्त्र शुद्धि भी होनी चाहिए। जल दूध आदि सभी पदार्थ पूर्ण पवित्र होना चाहिए। मौन से अन्तराय टालकर एकाशन करना चाहिए।

यह व्रत दस वर्ष तक करना चाहिए। अन्त में उद्यापन करना चाहिए।

इस व्रत को तीन बार तक भी करते हैं भाद्रपद माघ और चैत्र। किन्तु प्रसिद्धि भाद्रपद की अधिक है।

इस व्रत का जाप उत्तमक्षमा आदि दस धर्मों का होता है जो कि प्रत्येक जिनवाणी संग्रह अथवा पूजापाठ आदि पुस्तकों में उपलब्ध होता है।

वास्तव में यह दशलक्षण व्रत और रत्नत्रय दोनों व्रत आत्मा के धर्म के आराधन स्वरूप हैं। ये आत्मा को कर्मबंधन से मुक्त करने में हेतु हैं, अतः इनका भली प्रकार स्वरूप समझकर आत्मनिर्माण के लिए भव्यों को अवश्य ही इसका पालन करना चाहिए।

दशलक्षणव्रत कथा—दशलक्षण व्रत अत्यन्त प्रभावशाली है। इस व्रत के निष्काम पालन करने से लौकिक अभ्युदयों के साथ स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति होती है। महान् पाप के उदय से प्राप्त स्त्री पर्याय का छेद भी इस व्रत के धारण करने से हो जाता है, बताया गया है कि प्राचीनकाल में धातकीखण्ड के पूर्वविदेह देश में सीतोदा नदी के तट पर विशालाक्षा नाम की नगरी थी। इस नगरी के राजा प्रियंकर की पुत्री मृगांकलेखा, इस नृपति के मन्त्री की

पुत्री कामसेना इस नगरी के सेठ मतिसागर की पुत्री मदनसेना और लक्ष्यभद्र पुरोहित की पुत्री रोहिणी इन चारों ने एक साथ एक ही गुरु से शिक्षा प्राप्त की थी। एक दिन वसन्त में ये चारों कन्यायें अपने अभिभावकों की आज्ञा लेकर वनक्रीड़ा के लिए निकलीं। ये चारों वन की शोभा देखती-देखती बहुत दूर निकल गयीं। वसन्त के कारण वन के प्रत्येक वृक्ष में नया जीवन नयी स्फूर्ति और नयी उमंग दिखलायी पड़ रही थी। वन सुषमा अपना सर्वत्र साम्राज्य स्थापित किये हुए थी। शीतल, मन्द, सुगन्धित समीर उनके चित्त को विश्रान्ति दे रहा था। ये चारों कन्यायें आनन्द विभोर हो, प्रकृति के सौन्दर्यावलोकन में मग्न थीं इसी बीच उनकी दृष्टि एक वृक्ष के नीचे शिलातल पर बैठे हुए मुनिराज की ओर गई। उन कन्याओं ने भक्तिभाव पूर्वक उन योगीराज को नमस्कार किया और उनसे इन्होंने निम्न स्त्रीपर्याय से छुटकारा प्राप्त करने का उपाय पूछा।

मुनिराज–'बालिकाओ! मनुष्य अपने आचरण के कारण ही उन्नत या अवनत होता है। कर्मवश वह परतन्त्र आत्मा अहर्निश रागद्वेष में संलग्न रहती है। जब तक आत्मा काम, क्रोध, मोह, माया आदि विकारों से युक्त है, तब तक इसे संसार में अनेक पर्याय धारण करनी पड़ती हैं। पर्याय धारण करने का कारण कर्म है। अतः सब वैभाविक पर्यायों के त्याग के कारण आत्मानुभूति की प्राप्ति होती है। जब प्राणी को आत्मानुभूति हो जाती है तब उसे यथार्थ सुख की प्राप्ति हो जाती है। यह सुख कहीं बाहर से नहीं आता है और न यह आत्मा के अखण्ड स्वरूप से भिन्न कोई पदार्थ ही है। अतः अपनी आत्मा का निज स्वभाव प्राप्त करने के लिए तीव्र मोहोदय को हटाना चाहिए। इसके लिए उत्तम दशलक्षण व्रत का पालन करना आवश्यक है यह व्रत समस्त पापों का नाश करने वाला है, तथा सभी प्रकार के सुखों को देने वाला है।

मुनिराज से विधिपूर्वक व्रत ग्रहण कर वे चारों कन्यायें नगर में लौट आई और विधिपूर्वक दशलक्षणव्रत पालन करने में संलग्न हो गईं। विधिपूर्वक दस वर्ष पर्यन्त व्रत का पालन कर उन्होंने उद्यापन कर दिया। आयु के अन्तिम समय समाधिमरण धारण किया, जिससे वे चारों कन्यायें महाशुक्र नामक दसवें स्वर्ग में अमरगिरि, अमरचूल, देवप्रभु और पद्मसारथी नामक

महर्द्धिक देव हुई। वहाँ से च्युत होकर वे देव उज्जयनी नगरी के राजा मूलभद्र के घर लक्ष्मीमती रानी के गर्भ से पूर्णकुमार, देवराज, गुणचन्द्र और पद्मकुमार नामक सुन्दर पुत्र हुए समय पाकर इनके विवाह नन्दन नगरी के राजा की कलावती, बाही, इन्दुगात्री और ककू नाम की कन्याओं के साथ हुए। ये दम्पत्ती बहुत समय तक आनन्दपूर्वक संसार के सुख भोगते रहे। राजा मूलभद्र के विरक्त होकर दीक्षा धारण करने के उपरान्त चारों पुत्रों ने धर्म नीतिपूर्वक राज्य का संचालन किया। कुछ समय पश्चात् चारों ही संसार से विरक्त हो गये और दिगम्बरी दीक्षा धारणकर उग्र तपश्चरण किया, जिससे इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। पश्चात् योग, निरोध कर अघातिया कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त किया।

दशलक्षण व्रतोद्यापन–इस व्रत के उद्यापन के लिए 100 कोठों वाला मण्डल गोलाकार बनाना चाहिए। मण्डल लाल, श्वेत, हरे, पीले और नीले वर्ण के चावलों से बनाना चाहिए। इसके पश्चात् रत्नत्रय व्रतोद्यापन के समान ही जलयात्रा अंगन्यास आदि क्रियाएँ पूर्ववत् कर लेनी चाहिए। अनन्तर उद्यापन की पूजा करनी चाहिए।

उद्यापन के अनन्तर व्रत समाप्ति सूचक रत्नत्रय वाले संकल्प को यहाँ भी पढ़कर रत्नत्रय के स्थान पर दशलक्षणव्रत जोड़ लेना चाहिए अवशेष ग्राम, नगर आदि और अपना नाम आदि भी जोड़ लेने चाहिए।

उद्यापन की सामग्री–छत्र, चमर, झारी आदि मंगलद्रव्य, जपमाला, कलश, दस शास्त्र, मन्दिर के लिए दस बर्तन, दशलक्षणयन्त्र, 100 चाँदी के स्वस्तिक, दस नारियल, 100 सुपारी की आवश्कता होती है। इस उद्यापन में दस घरों में फल बांटना आवश्यक है।

षोडशकारणव्रत विधि

यह व्रत एक महीने का होता है। भाद्रपद कृष्णा (वदि) प्रतिपदा (पड़वा-एकम) से प्रारम्भ होकर आश्विन् कृष्ण प्रतिपदा तक होता है। इस व्रत में तीन प्रतिपदा का होना आवश्यक है अर्थात् भाद्रपद मास की दो प्रतिपदायें एवं आश्विन् मास की एक प्रतिपदा इसमें तिथि की हानि वृद्धि होने पर भी यह भाद्रपद की कृष्णा प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है। यह व्रत सोलह वर्ष प्रमाण किया जाता है। उत्कृष्ट विधि एक मास का पूरा उपवास

है। मध्यम विधि एकान्तर उपवास द्वितीया को पारणा पुनः तृतीया का उपवास चतुर्थी की पारणा इस प्रकार पूरे महीने करना। अथवा दो दिन उपवास कर एक दिन एकाशन/एकाशन का अर्थ है–केवल एक बार ही शुद्ध भोजन करना, पानी, दूध आदि भी दूसरी बार नहीं लेना। भोजन बिल्कुल साधुजैसा शुद्ध होना चाहिए, मौन पूर्वक अन्तराय टालकर करना चाहिए। आटा, मसाला आदि सब कुछ मर्यादित (तीन दिन का) होना, दूध शुद्ध व्यक्ति के हाथ से निकला हुआ, पानी अपने हाथ से भरा हुआ कुएँ का दुहरे खद्दर के कपड़े से छना हुआ, तत्काल प्रासुक किया होना चाहिए।

व्रतों के दिनों में प्रतिदिन धुले वस्त्र पहनकर धुली सामगी से जिनेन्द्र देव की अर्चना करना षोडश कारण व्रत की पूजा करना अन्य भी यथायोग्य पूजन करना चाहिए।

व्रत की जाप–

समुच्चय जाप ॐ ह्रीं श्रीं षोडशकारणभावनाभ्यो नमः।

1. ॐ ह्रीं श्रीं दर्शनविशुद्धिभावनायै नमः।
2. ॐ ह्रीं श्रीं विनयसंपन्नताभावनायै नमः।
3. ॐ ह्रीं श्रीं शीलव्रतेष्वनतिचारभावनायै नमः।
4. ॐ ह्रीं श्रीं अभीक्ष्णज्ञानोपयोगभावनायै नमः।
5. ॐ ह्रीं श्रीं संवेगभावनायै नमः।
6. ॐ ह्रीं श्रीं शक्तितस्त्यागभावनायै नमः।
7. ॐ ह्रीं श्रीं शक्तितस्तपोभावनायै नमः।
8. ॐ ह्रीं श्रीं साधुसमाधिभावनायै नमः।
9. ॐ ह्रीं श्रीं वैयावृत्यकरणभावनायै नमः।
10. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हद् भक्तिभावनायै नमः।
11. ॐ ह्रीं श्रीं आचार्यभक्तिभावनायै नमः।
12. ॐ ह्रीं श्रीं बहुश्रुतभक्तिभावनायै नमः।
13. ॐ ह्रीं श्रीं प्रवचनभक्तिभावनायै नमः।
14. ॐ ह्रीं श्रीं आवश्यकापरिहाणिभावनायै नमः।
15. ॐ ह्रीं श्रीं मार्गप्रभावनाभावनायै नमः।
16. ॐ ह्रीं श्रीं प्रवचनवात्सल्यभावनायै नमः।

कोई-कोई इस व्रत को वर्ष में तीन बार भी करते हैं, भाद्रपद, माघ और चैत्र में व्रत पूर्ण होने पर यथाशक्ति उद्यापन करे। चतुर्विध संघ को आहारदान आदि देवे। मन्दिर में उपकरण आदि चढ़ावे।

षोडशकारणव्रत कथा–बिहार प्रदेश में राजगृही नामक नगरी है। यहाँ प्राचीनकाल में राजा हेमप्रभ अपनी रानी विजयावती सहित राज्य करते थे। इस राजा के यहाँ महाशर्मा नामक नौकर था और उसकी स्त्री का नाम प्रियंवदा था। इस प्रियंवदा के गर्भ से कालभैरवी नाम की अत्यन्त कुरूपा कन्या उत्पन्न हुई, जिसको देखकर सभी लोग घृणा करते थे।

एक दिन मतिसागर नामक चारणमुनि आकाशमार्ग से गमन करते हुए उस नगर में आये। महाशर्मा ने भक्तिपूर्वक पड़गाहन कर उन्हें विधिपूर्वक आहारदान दिया। पश्चात् विनयपूर्वक अपनी कन्या के कुरूपा और कुलक्षणी होने का कारण पूछा। मुनिराज ने अवधिज्ञान द्वारा समस्त वृत्तान्त ज्ञात कर कहा–'यह कन्या पूर्वभव में उज्जयिनी नगरी के राजा महीपाल की विशालाक्षी नाम की पुत्री थी। एक दिन इसने अभिमान में आकर चर्या से निवृत्त होकर जाते समय महातपस्वी ज्ञानसूर्य नामक मुनिराज के ऊपर थूक दिया। पश्चात् राजपुरोहित द्वारा धमकाये जाने पर इसे पश्चात्ताप हुआ, और इसने मुनिराज के पास जाकर नमोऽस्तु कर क्षमा याचना की। वहाँ से मरण कर यह आपके यहाँ पूर्वजन्म में मुनि-उपसर्ग करने के कारण कुरूपा हुई है। मुनिराज–'वत्स! धर्म का प्रभाव संसार में अमिट होता है। जो व्यक्ति धर्मधारण करता है उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। व्रत तपश्चरण करने से आत्मा पवित्र हो जाती है और जन्म-जन्मान्तर के सञ्चित कर्म भस्म हो जाते हैं। अतः तुम्हारी यह कन्या षोडशकारण भावना भावे और इस व्रत का पालन करे, तो इसका यह पाप भस्म हो जायेगा तथा यह स्त्री लिंग छेद कर मोक्ष भी प्राप्त कर लेगी।

मुनिराज द्वारा बतलायी हुई विधि से कुरूपा ने इस व्रत का पालन किया। सोलह वर्ष तक उक्त व्रत का पालन करने के उपरान्त उसने उस व्रत का उद्यापन कर दिया। पश्चात् समाधिमरण धारण कर प्राण त्याग किया, जिससे स्त्री पर्याय का विनाश कर सोलहवें स्वर्ग में देव हुई। वहाँ से च्युत होकर उक्त व्रत द्वारा किए गए पुण्यार्जन के प्रभाव से उसने विदेहक्षेत्र में

सीमन्धर तीर्थंकर का पद प्राप्त किया। यह सोलहकारण व्रत तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने वाला है, विधि पूर्वक इस व्रत का पालन करने से आत्मा अत्यन्त पवित्र हो जाती है।

पोडशकारण व्रतोद्यापन–इस व्रत के उद्यापन के लिए कुल 256 कोष्ठ का मण्डल बनता है। प्रथम मण्डल दर्शनविशुद्धि का होता है, इसमें 98 कोष्ठक होते हैं।

द्वितीय मण्डल विनयसम्पन्नता का होता है इसमें 5 कोष्ठक होते हैं। तृतीय मण्डल शीलभावना का होता है, इसमें 10 कोष्ठक होते हैं। चौथा मण्डल अभीक्ष्णज्ञानोपयोग का होता है, इसमें 42 कोष्ठक होते हैं। पाँचवां संवेग भावना नाम का मण्डल है, इसमें 14 कोष्ठक हैं। छठवाँ शक्तिस्त्याग नाम का मण्डल है, इसमें 4 कोष्ठक होते हैं। सातवाँ शक्तिस्तप नाम का मण्डल है, इसमें 24 कोष्ठक, आठवाँ साधुसमाधि नाम का मण्डल है, इसमें 4 कोष्ठक हैं। नवाँ वैयावृत्य का मंडल है, इसमें 4 कोष्ठक हैं दसवाँ अर्हदभक्ति नाम का मण्डल है, इसमें 13 कोष्ठक होते हैं। ग्यारहवाँ आचार्यभक्ति नामक मण्डल है, इसमें 12 कोष्ठक होते हैं। बारहवाँ बहुश्रुतभक्ति नाम का मंडल है, इसमें 12 कोष्ठक होते हैं। तेरहवाँ प्रवचन भक्ति नाम का मंडल है, इसमें 2 कोष्ठक होते हैं। चौदहवाँ आवश्यकापरिहाणि नाम का मंडल है, इसमें 6 कोष्ठक होते हैं। पन्द्रहवाँ मार्गप्रभावना नाम का मण्डल है, जिसमें 10 कोष्ठक होते हैं। सोलहवाँ प्रवचन वत्सलत्व नाम का मण्डल है। इसमें 4 कोष्ठक होते हैं। इस प्रकार 256 कोष्ठक का मांडला रंगीन चावलों से बना लेना चाहिए।

जलयात्रा, अभिषेक, मंगलाष्टक, सकलीकरण, अंगन्यास, स्वस्तिवाचन आदि के उपरान्त षोडशकारण व्रतोद्यापन की पूजा करनी चाहिए। संकल्पमन्त्र पूर्ववत् ही पढ़ा जायेगा, पर उसमें षोडशकारणव्रत का नाम तथा तिथि नक्षत्रादि जोड़कर संकल्प छोड़ना चाहिए। पश्चात् पुण्याहवाचन, शान्ति, विसर्जन करना चाहिए। उद्यापन के अनन्तर 16 घरों में फल वितरित करना चाहिए।

उद्यापन की सामग्री–षोड़शकारण यन्त्र पूजन सामग्री, 256 चाँदी के स्वस्तिक 256 सुपारी, 16 शास्त्र, 16 नारियल, वर्तन, छत्र, चमर आदि मंगलद्रव्य, दान करने के लिए नकद रुपये आदि आवश्यक सामान हैं।

आष्टाह्निकव्रत विधि

यह व्रत आठ दिन का होता है अतः इसे आष्टाह्निकव्रत कहते हैं। नन्दीश्वरद्वीप के अकृत्रिम जिनालयों को लक्ष्य में रखकर किया जाता है, अतः नन्दीश्वरव्रत भी कहलाता है। यह वर्ष में तीन बार आता है।

आषाढ़ शुक्ला अष्टमी से पूर्णिमा तक।

कार्तिक शुक्ला अष्टमी से पूर्णिमा तक।

फाल्गुन शुक्ला अष्टमी से पूर्णिमा तक।

यह आठ वर्ष तक करना चाहिए। उत्कृष्ट विधि आठ उपवास हैं, मध्यम तथा जघन्य के अनेक प्रकार हैं।

इनमें एकाशन करने की जो विधि षोडशकारण व्रत के एकाशन की बतायी है, वही करना चाहिए आठ दिनों में नित्य-नियम की पूजा करके पुनः नन्दीश्वर जिनालयों की पूजा करें।

सभी दिनों में धर्मध्यान–स्वाध्याय जप आदि में समय व्यतीत करें कुकथा, जासूसी उपन्यास पढ़ना, रेडियो, टेलीविजन आदि सुनना देखना वर्जित है।

इस व्रत की जाप–

1. ॐ ह्रीं श्रीं नंदीश्वरसंज्ञाय नमः।
2. ॐ ह्रीं श्रीं अष्टमहाविभूतिसंज्ञाय नमः।
3. ॐ ह्रीं श्रीं त्रिलोकसारसंज्ञाय नमः।
4. ॐ ह्रीं श्रीं चतुर्भुजसंज्ञाय नमः।
5. ॐ ह्रीं श्रीं पञ्चममहालक्षणसंज्ञाय नमः।
6. ॐ ह्रीं श्रीं स्वर्गसोपानसंज्ञाय नमः।
7. ॐ ह्रीं श्रीं सिद्धचक्रसंज्ञाय नमः।
8. ॐ ह्रीं श्रीं इन्द्रध्वजसंज्ञाय नमः।

व्रत पूर्ण होने पर उद्यापन करें।

आष्टाह्निकव्रत कथा–अयोध्या नगरी में हरिषेण नाम का चक्रवर्ती सम्राट अपनी गन्धर्वसेना नामक पटरानी के साथ न्यायपूर्वक शासन करता था। एक दिन सम्राट अपनी छियानवे हजार रानियों सहित वन क्रीड़ा के लिए

गया। वहाँ उसने एक निरापद स्थान में शिलापट्ट पर आसीन अरिञ्जय और अमितञ्जय नाम के दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों को ध्यानारूढ़ देखा। राजा भक्तिपूर्वक मुनिराजों के पास गया और नमोऽस्तु कर बोला–'स्वामिन्! मैंने ऐसा कौन सा पुण्य किया है जिससे यह बड़ी विभूति मुझे प्राप्त हुई है?'

मुनिराज बोले–राजन्! इसी अयोध्या नगरी में कुबेरदत्त नाम के सेठ के तीन पुत्र थे–श्रीवर्मा, जयकीर्ति और जयवर्मा। श्रीवर्मा शैशव से ही विचारशील और धार्मिक प्रकृति का था। एक दिन उसने मुनिराज की वन्दना कर नन्दीश्वर व्रत लिया। उसने इस व्रत का आचरण बड़ी सावधानी के साथ किया। आयु के अन्त में समाधिमरण धारण किया, जिससे वह प्रथम स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ और वहाँ असंख्यात वर्षों तक देवोचित्त सुख भोगकर तुम यहाँ चक्रवर्ती हुए हो। आष्टाह्निकव्रत के प्रभाव से तुमको नवनिधि, चौदह रत्न, छयानवे हजार रानियाँ आदि विभूति के साथ छः खण्ड का राज्य प्राप्त हुआ है। तुम्हारे भाई जयकीर्ति और जयवर्मा ने भी धर्मगुरु से श्रावक के व्रत ग्रहण किए तथा उन दोनों ने भी आष्टाह्निका व्रत का पालन किया, जिसके प्रभाव से समाधिमरण धारण किया तथा स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुए, पश्चात् वहाँ से चय कर हस्तिनापुर में विमल नामक सेठ की स्त्री लक्ष्यवती के गर्भ से अरिञ्जय और अमितञ्जय नाम के पुत्र हुए। ये दोनों भाई हम हैं।' इस प्रकार व्रत का माहात्म्य सुन राजा प्रसन्न हुआ।

उद्यापन विधि–इस व्रत के उद्यापन के लिए प्रत्येक दिशा में तेरह-तेरह चैत्यालय बनाकर कुल 52 चैत्यालयों का मण्डल बना लेना चाहिए। कपड़े पर बने माण्डना को काम में कभी भी नहीं लाना चाहिए, चावलों द्वारा निर्मित माण्डना ही उत्तम होता है। माण्डना बन जाने के उपरान्त, पूर्ववत् जलयात्रा और अभिषेक आदि क्रियाओं को सम्पन्न करना चाहिए। इस व्रत का उद्यापन श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को करना चाहिए। सकलीकरण अंगन्यास आदि के पश्चात् स्वस्तिवाचन पूर्वक उद्यापन की पूजा करनी चाहिए। अनन्तर रत्नत्रय व्रतोद्यापन में बतलाये गये संकल्प मन्त्र को पढ़कर संकल्प छोड़ना चाहिए। पश्चात् पुण्याहवाचन, शान्तिपाठ और विसर्जन करना चाहिए।

उद्यापन की सामग्री–मन्दिर में देने के लिए आठ-आठ उपकरण,

आठ शास्त्र, पूजन सामग्री, चन्दोवा, पूजन में चढ़ाने के लिए 52 चाँदी के स्वस्तिक, 52 सुपारी, चार नारियल की आवश्यकता होती है। सिद्धचक्र यन्त्र भी बनवाना चाहिए।

रोहिणी-व्रत

इस व्रत को जिस दिन रोहिणी नक्षत्र हो, उस दिन किया जाता है। प्रत्येक मास में एक बार रोहिणी नक्षत्र आता है। अर्थात् हर सत्ताईश दिनों बाद एक बार यह रोहिणी नक्षत्र आता है इस हिसाब से बारह महिनों में तेरह बार यह नक्षत्र उदित होता है। इस नक्षत्र के दिन चतुराहार का त्याग कर उपवास ग्रहण करें। इस दिन शोक करना रोना, चिल्लाना आक्रोश आदि वर्जित है। यह व्रत तीन वर्ष या पाँच वर्ष अथवा सात वर्ष तक किया जाता है। व्रत पूर्ण होने पर यथायोग्य उद्यापन करें।

'ॐ ह्रीं श्रीं चन्द्रप्रभजिनेन्द्राय नमः' इस मन्त्र का जाप करें।

रोहिणीव्रत कथा–रोहिणीव्रत का समाज में अधिक प्रचार है। आख्यान में बताया गया है कि हस्तिनापुर के राजकुमार अशोक अपनी प्रिया रोहिणी के शान्त स्वभाव के कारण अत्यधिक चिन्तित था। एकदिन उसने मुनिराज के दर्शन कर उनसे अपनी प्रियतमा के शान्त रहने का कारण पूछा–

तब मुनिराज बोले ''कुमार प्राचीनकाल में इसी नगर में धनमित्र नाम का एक व्यक्ति रहता था। इसके दुर्गन्धा नाम की कन्या उत्पन्न हुई थी। उस कन्या के शरीर में अत्यन्त दुर्गन्ध निकलती थी, जिससे माता-पिता अत्यन्त चिन्तित रहते थे, कि इसका विवाह किस प्रकार होगा। किसी प्रकार उसका विवाह श्रीषेण नामक व्यसनी व्यक्ति के साथ सम्पन्न हो गया। श्रीषेण भी अपनी पत्नी को एक ही महीने में त्याग कर चला गया, जिससे दुर्गन्धा को महान कष्ट रहने लगा। एक दिन अमृतसेन नाम के मुनि उस नगर में आये धनमित्र अपनी कन्या दुर्गन्धा सहित उनकी वन्दना के लिए आया, अवसर पाकर उसने कन्या के भवान्तर पूछे।''

मुनिराज–''वत्स! सौराष्ट्र देश में गिरनार पर्वत के निकट एक नगर है। उसमें भूपाल नाम का राजा अपनी भार्या सिन्धुमति सहित निवास करता था। एक दिन बसन्त ऋतु में राजा रानी सहित वन क्रीड़ा को गया। मार्ग में

मुनिराज को देखकर राजा ने रानी से कहा तुम लौट जाओ मुनिराज के लिए आहार तैयार करो। रानी राजा के आदेशानुसार लौट तो आई, पर मुनिराज को वन विहार में बाधक समझकर उसने कड़वी तूंबड़ी का आहार तैयार किया। मुनिराज चर्या के लिए आये। रानी ने पड़गाहन कर उन्हें कड़वी तूंबड़ी का आहार करा दिया, जिससे मुनिराज के शरीर में अपार वेदना हुई और उनका प्राणान्त हो गया। रानी के दुष्कृत्य की बात राजा को अवगत हुई, अतः उसने घर से निकाल दिया, रानी के शरीर में उसी जन्म में गलित कुष्ट रोग उत्पन्न हो गया, जिससे संकल्प-विकल्प पूर्वक उसने प्राण त्याग किया, जिसके प्रभाव से वह नरक गई। वहाँ से च्युत होकर गाय का जन्म धारण किया और अब यह तुम्हारे यहाँ दुर्गन्धा हुई है।''

धनमित्र–''स्वामिन्! इसके पाप के प्रायश्चित्त के लिए कोई व्रत विधान बतलाने की कृपा करें, जिसके कारण जीवन सुखी हो सके।''

मुनिराज–''वत्स! सम्यग्दर्शन-सहित प्रतिमास रोहिणी नक्षत्र के दिन यह तुम्हारी बेटी उपवास करे। उस दिन को चैत्यालय में धर्मध्यान, पूजन, आदि के साथ व्यतीत करे व्रत करने के उपरान्त उद्यापन कर दे।''

दुर्गन्धा ने मुनिराज द्वारा प्रतिपादित विधि के अनुसार उक्त व्रत का पालन किया, जिसके प्रभाव से यह प्रथम स्वर्ग में देवी हुई। वहाँ से च्युत होकर यह तुम्हारी भार्या बनी है। तुम भी पहले भील थे। तुमने मुनिराज को उपसर्ग किया था, जिस पाप के कारण तुम सातवें नरक गए। वहाँ से निकलकर अनेक कुयोनियों में भ्रमण करने के पश्चात् एक वणिक् के घर जन्म लिया। तुम्हारा शरीर यहाँ अत्यन्त घृणित और दुर्गन्धित था। तुम्हारे पास भी कोई नहीं आता था, तुमने मुनिराज से रोहिणीव्रत ग्रहण किया। व्रत के प्रभाव से तुम स्वर्ग में देव हुए। स्वर्ग से च्युत होकर तुम अशोक नाम के राजा हुए हो।

मुनिराज द्वारा अपने तथा प्रिय रोहिणी देवी के पूर्व भव सुन अशोक नरेश अत्यन्त प्रसन्न हुआ तथा संसार शरीर भोगों से विरक्त हुआ अनन्तर जिनदीक्षा ग्रहण करके मोक्षपद प्राप्त किया। रानी रोहिणी ने भी तपस्या एवं समाधिमरण द्वारा देवपद प्राप्त किया।

रोहिणीव्रतोद्यापन विधि और सामग्री–पाँच वर्ष, पाँच महीना करने

के उपरान्त इस व्रत का उद्यापन किया जाता है। थाली में ऋद्धि मन्त्र बनाया जाय। कुल रोहिणीव्रत की संख्या व्रत के दिनों में 72 प्रमाण होती है, अतः इस व्रत के उद्यापन में त्रिकाल चतुर्विंशति पूजन पृथक्-पृथक् करना होगा। पूजन की प्रक्रिया पूर्ववत् है—जलयात्रा, अभिषेक, सकलीकरण, अंगन्यास, मंगलाष्टक, स्वस्तिविधान, अनन्तर 72 पूजाएँ होती हैं। प्रत्येक पूजा के अर्ध में चाँदी या गोटों का स्वस्तिक, नारियल या सुपारी चढ़ाई जाती है। उद्यापन में कम से कम 5 शास्त्र, पूजन के बर्तन, चन्दोवा झारी घण्टा आदि चढ़ाया जाता है। शक्ति हो तो 72 श्रावकों को भोजन कराया जाता है।

रविव्रत

रविव्रत विधि—आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष के रविवार से लेकर नौ रविवार तक यह व्रत किया जाता है, प्रत्येक रविवार के दिन उपवास या नमक के बिना एकाशन करने का नियम है। व्रत के दिन पार्श्वनाथ भगवान् की पूजन अभिषेक पूर्वक करें। समस्त गृहारंभ से दूर रहकर धर्म ध्यान में समय व्यतीत करे इसकी जाप—**ॐ ह्रीं अर्हं श्रीपार्श्वनाथजिनेन्द्राय नमः** है। नौ वर्ष व्रत करने के उपरान्त उद्यापन करें।

पहले वर्ष नव उपवास, दूसरा वर्ष नमक बिना मांड भात तीसरे वर्ष नमक बिना दाल भात, चौथे वर्ष नमक बिना खिचड़ी, पाँचवें वर्ष बिना नमक रोटी, छठवे वर्ष नमक बिना दही भात सातवें और आठवें वर्ष नमक बिना मूंग की दाल और रोटी। नौवे वर्ष एक बार परोसा बिना नमक का भोजन।

दूसरी विधि—नौ वर्ष तक हर बार नौ-नौ उपवास करना।

तीसरी विधि—आषाढ़ का अन्तिम रविवार से व्रत प्रारम्भ करके इक्यासी (81) रविवार तक लगातार पौने दो वर्ष तक हर रविवार को व्रत करना उपवास से, या बिना नमक के एकाशन से।

व्रत पूर्ण होने पर उद्यापन का मण्डल मांडकर पूजन पूर्वक उद्यापन करे। शास्त्र दान दे। चतुर्विध संघ को आहारदान आदि दे।

रविव्रत कथा—प्राचीन काल में वाराणसी नगरी के शासक महीपाल नृपति थे। इसके राज्य में मतिसागर नामक सेठ अपनी गुणसुन्दरी नाम की स्त्री के साथ सुखपूर्वक निवास करता था। सेठ के सात पुत्र थे। सभी

होनहार, योग्य और विद्वान् थे। एक दिन इस नगरी की वाटिका के बाहरी भाग में गुणसागर नाम के मुनिराज पधारे। मुनिराज के आगमन का समाचार सुनकर नगर के नर-नारी मुनिदर्शन के लिए गये। सेठानी गुणसुन्दरी भी वहाँ गई। धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् उसने मुनिराज से करबद्ध प्रार्थना की– प्रभो! ''मुझे कोई व्रत दीजिए।''

मुनिराज–''वत्से! श्रावक को दृढ़-श्रद्धानी होकर अपने मूलगुण और उत्तरगुणों को निर्मल करना चाहिए। बेटी! तुम रविव्रत करना आरम्भ करो। यह व्रत सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाला है तथा इसके द्वारा आत्मकल्याण भी होता है।''

गुणसुन्दरी व्रत ग्रहण कर घर आई। उसने अपने परिवार के सभी व्यक्तियों को मुनिराज द्वारा ग्रहण किए गए व्रत की बात कही, सभी लोग रविव्रत की बात सुनकर हँसने लगे और सबने व्रत का निरादर किया। कुछ समय पश्चात् पाप के उदय से मतिसागर सेठ की सम्पत्ति क्षीण होने लगी। धीरे-धीरे उसके घर में दरिद्रता देवी ने आसन जमा लिया। सेठ के सातों पुत्र परदेश चले गए, और वे अयोध्या नगरी के सेठ जिनदत्त के घर जाकर नौकरी करने लगे। सेठ-सेठानी वाराणसी में रहकर दुःख भोगने लगे। उनके यहाँ अन्नाभाव रहने से किसी-किसी दिन उन्हें निराहार रह जाना पड़ता था। पुत्रों के वियोग के कारण सेठ-सेठानी को और अधिक वेदना थी। एक दिन उस नगरी में अवधि-ज्ञानी मुनि का आगमन हुआ सेठ के साथ गुणसुन्दरी मुनि दर्शन के लिए गयी और अपनी दरिद्रता का कारण पूछा।

मुनिराज–''बेटी तुमने लिए हुए व्रत की अवहेलना की है, इसी का यह परिणाम है।''

पुनः रविवार व्रत को करना आरम्भ करो, तुम्हारा संकट सब दूर हो जायेगा। सेठ सेठानी ने मुनिराज से पुनः व्रत ग्रहण कर लिया और दोनों ने विधि पूर्वक व्रत का पालन करना आरम्भ किया। व्रत के प्रभाव से उनका समस्त दुःख दारिद्र नष्ट हो गया तथा उनके पुत्र भी उनके पास चले आये। कुछ समय पश्चात् सेठ मतिसागर ने आयु का अन्त जान संन्यासमरण धारण किया, जिसके प्रभाव से उसे उत्तम भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त हुई। कुछ भव के पश्चात् उसने निर्वाण पद प्राप्त किया।

रविवार व्रतोद्यापन–इस उद्यापन के लिए 81 कोष्ठकों का मण्डल बनाया जाता है। मण्डल पर ही भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान की जाती है। अभिषेक के लिए जल लाने के पश्चात् सकलीकरण, अंगन्यास, मंगलाष्टक, स्वस्तिविधान करने के पश्चात् गंधकुटी की पूजा करनी चाहिए। अनन्तर उद्यापन की पूजा, पश्चात् पूर्वोक्त संकल्प, पुण्याहवाचन, शान्ति और विसर्जन करना चाहिए।

उद्यापन की सामग्री–नौ शास्त्र, मन्दिर के लिए नौ बर्तन, उपकरण, चन्दोवा, पूजा के लिए 81 गोटा या चाँदी के स्वस्तिक, 81 सुपारी, 81 नारियल पूजन सामग्री, नौ श्रावकों के घर नौ-नौ फल वितरित करने के लिए एकत्र करना चाहिए। उद्यापन के अनन्तर नौ श्रावकों को भोजन कराना चाहिए।

जिनगुणसंपत्तिव्रत विधान

जिनगुणसंपत्तिव्रत में 63 उपवास करने का विधान है। इसमें षोडशकारण के सोलह उपवास, पञ्चकल्याणक के पाँच उपवास, अष्ट प्रातिहार्य के आठ उपवास, दश जन्म के और दश केवलज्ञान के अतिशयों के उपवास कुल करके 20 और चौदह देवकृत अतिशय के चौदह उपवास होते हैं।

षोडशकारण के 16 उपवास, प्रतिपदा तिथि के, अष्टमी तिथि के आठ उपवास, जन्म और केवलज्ञान के, दस-दस अतिशयों के 20 उपवास, दशमी तिथि के होते हैं और चतुर्दशी तिथि के चौदह देवकृत अतिशय के चौदह उपवास होते हैं। पञ्चकल्याणक के पाँच उपवास पञ्चमी तिथि के होते हैं।

इन सब उपवासों के पृथक्-पृथक् 63 मंत्र जाप होते हैं। जिनगुणसंपत्तिव्रत की पुस्तक स्वतन्त्र छपी हुई है उसमें इन मंत्रों को देखकर जाप करना चाहिए।

यह व्रत बिना तिथि के भी कर सकते हैं। उपवास के दिन ही जिनपूजन अवश्य करना चाहिए। मंत्र का जप एवं कथा वाचन करना चाहिए।

जिनगुणसंपत्तिव्रतकथा–यह व्रत स्वर्गापवर्ग देने वाला है। इस व्रत के पालन करने से धन-धान्य की प्राप्ति होती है। कहा जाता है कि अपर

विदेहक्षेत्र में गान्धिल नाम का देश है, इसके पाटलीपुत्र नाम के नगर में नागदत्त नाम का एक सेठ और उसकी सुमति नाम की सेठानी रहती थी। निर्धन होने के कारण नागदत्त और सुमति को लकड़ी ढोने का कार्य करना पड़ता था। एक दिन सुमति जंगल में लकड़ी लेने के लिए गई हुई थी। वह प्यास की वेदना से त्रस्त होकर एक वृक्ष के नीचे थककर बैठ गई। उसने देखा कि बहुत से व्यक्ति पिहितास्रव नाम के केवली की वन्दना के लिए जा रहे हैं। वह भी अपनी वेदना भूलकर सब लोगों के साथ भगवान् की वन्दना के लिए चल दी। समवशरण में पहुँचकर उसने भक्तिभाव पूर्वक भगवान की वन्दना की और एकाग्रचित्त से उपदेश सुनने लगी। अवसर पाकर उसने अपने दरिद्री होने का कारण पूछा। भगवान् ने उसके भवान्तरों का वर्णन किया तथा मुनिनिन्दा के कारण ही इस प्रकार दरिद्रता प्राप्त होने की बात कही।

पश्चात् उक्त पाप से छुटकारा प्राप्त करने के लिए जिनगुणसंपत्तिव्रत पालन करने की बात कही। उसने श्रद्धा और भक्ति सहित उक्त व्रत को ग्रहण किया। व्रत के प्रभाव से अनेक भव धारण करने के बाद वह हस्तिनापुर में सोमप्रभ नृपति हुई, जिन्होंने भगवान् आदिनाथ को आहार दिया, पश्चात् दिगम्बरी दीक्षा धारण कर, निर्वाण पद प्राप्त किया।

उद्यापन विधि हेतु व्रत विधान सम्बन्धी ग्रन्थ देखें।

लब्धिविधान व्रत

लब्धिविधान भाद्रपद, माघ और चैत्र सुदी प्रतिपदा से तृतीया तक किया जाता है। इसकी धारणा पूर्णिमा को तथा पारणा चतुर्थी को होती है। यदि तेला की शक्ति न होवे, तो प्रतिपदा और तृतीया को उपवास कर बीच में द्वितीया के दिन ऊनोदर आहार करें।

व्रत के दिनों में महावीर प्रभु की प्रतिमा का अभिषेक करें, पूजन करे तथा **''ॐ ह्रीं महावीरस्वामिने नमः''** इस मन्त्र का तीन बार जाप करें। तीनों दिन धर्मध्यान स्वाध्याय स्तोत्रपाठ आदि करें विकथा आदि में समय नहीं गवावें। यह कम से कम तीन वर्ष करें। व्रत पूर्ण होने पर उद्यापन करें। चतुर्विध संघ को आहारादि दान देवें। साधर्मी जनों का आदर सम्मान करें।

लब्धिविधानव्रत कथा–लब्धिविधानव्रत का पालन करने से सञ्चित पाप भस्म हो जाते हैं। आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। बतलाया गया है कि बनारस नगरी के राजा विश्वसेन की रानी का नाम विशालनयना था। इसकी दो सखियाँ थीं–चमरी, और रंगी। दोनों सुन्दर अभिनय करती थीं। एकदिन राजा ने अपनी सभा में एक अभिनय का आयोजन कराया। अभिनय बहुत सुन्दर हुआ, रानी अपनी अभिनेत्रियों की कुशलता पर मुग्ध हो गई और उसने अपना हृदय उन्हें समर्पित कर दिया। रानी एक दिन रात में अपनी सखियों के साथ निकल पड़ी और भ्रष्ट होकर वेश्या कर्म करने लगी। उन तीनों ने मुनिराज की तपस्या में विघ्न उत्पन्न किया, उन्हें नाना प्रकार के उपसर्ग किये। इसी पाप के उदय से उन तीनों को बहुत काल तक अनेक कुयोनियों में भ्रमण करना पड़ा। पश्चात् उज्जयिनी के पास पलास नाम के ग्राम में एक शूद्र के घर में तीन पुत्रियाँ हुईं, जो अत्यन्त कुरूपा थीं। इनके माता-पिता इन्हें जन्म देकर ही मरण को प्राप्त हो गये थे। इनके कुत्सित व्यवहार के कारण ग्रामवासियों ने इन तीनों को ग्राम से निकाल दिया था। फलतः तीनों ही भटकती हुई पाटलीपुत्र के उद्यान में पहुँची। वहाँ मुनिराज के दर्शन कर तीनों ने अपने जन्म को धन्य समझा। उनके उपदेश से प्रभावित होकर तीनों ने लब्धिविधानव्रत ग्रहण किया। उसका बहुत ही श्रद्धा और भक्ति के साथ पालन करने लगी। व्रताचरण के कारण परिणामों में कोमलता आ गई। उन्होंने आयु के अन्त में समाधिमरण धारण किया। व्रत के प्रभाव से वे पाँचवें स्वर्ग में देव हुईं, वहाँ से चयकर विशालनयना का जीव तो मगध देश के पांडवनगर में काश्यपगोत्रीय सांडल्य ब्राह्मण की सांडिल्या स्त्री के गौतम नाम का पुत्र हुआ, यही भगवान् महावीर के समवशरण का प्रथम गणधर हुआ, जिसने निर्वाण पद पाया। चमरी और रंगी के जीव देवपर्याय से चयकर मनुष्य हुए। व्रत के संस्कार के कारण इनकी आत्मा में निर्मलता थी, अतः निमित्त पाकर वे विरक्त हुए तथा दिगम्बरी दीक्षा धारण कर तपश्चरण करने लगे। उत्तरोत्तर उग्र तप धारण करने के कारण इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। पश्चात् योगों का निरोधकर अघातियाकर्मों का नाश किया और मोक्षपद प्राप्त किया। उद्यापन विधि और सामग्री व्रत सम्बन्धी ग्रन्थों से ज्ञात करें।

अनन्तव्रत—यह भाद्रपद शुक्ला एकादशी से चतुर्दशी तक करते हैं प्रथम के तीन दिन शुद्ध भोजन एक बार और चतुर्दशी को उपवास करके भी यह व्रत किया जाता है। इस चतुर्दशी को अनन्तचतुर्दशी या अनन्त चौदस इसीलिए कहते हैं कि अनन्तव्रत का दिन है। इसकी कथा एवं जाप व्रत कथा विधान से ज्ञात करें।

णमोकार पैतीसी— णमोकार मंत्र में पैंतीस अक्षर होते हैं, उनका लक्ष्य कर पैंतीस उपवास किए जाते हैं। व्रतों के दिन जिन पूजन एवं णमोकार मंत्र का त्रिकाल जाप करें।

सम्यक्त्व पच्चीसी—सम्यग्दर्शन के पच्चीस मल दोष होते हैं उन दोषों को दूर करने की भावना करते हुए पच्चीस उपवास किए जाते हैं। इससे सम्यग्दर्शन निर्मल होता है।

ज्ञान पच्चीसी—ग्यारह अंग और चौदह पूर्व स्वरूप द्वादशांग जिनवाणी का लक्ष्य करके पच्चीस उपवास करने को ज्ञान पच्चीसी व्रत कहते हैं। हमको पूर्ण श्रुतज्ञान की प्राप्ति हो इस उज्ज्वल भावना के साथ यह व्रत करना चाहिए। सम्यक्त्व पच्चीसी और ज्ञानपच्चीसी व्रत के जाप अन्य व्रत विधानों की पुस्तकों में उपलब्ध हैं, वहाँ से देख लेना चाहिए।

अवशेष समस्त व्रतों के उद्यापन के लिए व्रत के उपवास या वर्षों के अनुसार माण्डना बना लेना चाहिए। जिन व्रतों का माण्डता नहीं बनाया जा सकता हो, उन व्रतों के उद्यापन के लिए सुसंस्कृत मिट्टी के कलश के ऊपर थाल रखकर पूजा करनी चाहिए। पूजा के पहले जलयात्रा, अभिषेक, सकलीकरण, अंगन्यास, मंगलाष्टक, स्वस्तिविधान सभी उद्यापनों में होगा। पूजा के पूर्ण अर्घ्यों के अनन्तर संकल्प, पुण्याहवाचन, शान्ति और विसर्जन किया जायेगा। उद्यापन की पूजा के कार्य में सुपारी, स्वस्तिक चढ़ाना चाहिए। मन्दिर को उपकरण, बर्तन और शास्त्र देने चाहिए। किसी व्रत का उद्यापन व्रत की समाप्ति के दिन किया जाता है। पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर कभी भी किसी भी व्रत का उद्यापन किया जा सकता है।

इस पुस्तक में कतिपय ही व्रतों का वर्णन किया है। व्रतों के सैकड़ों प्रकार हैं। मुमुक्षुजनों को जैनव्रतसंग्रह पुस्तक हरिवंशपुराण आदि से अन्य व्रतों का ज्ञान करना चाहिए।

परिशिष्ट

अणुव्रतों का आधुनिक रूप से वर्णन

अहिंसा-अणुव्रत—गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी हिंसा का कुछ सीमा तक परिहार करना है एतदर्थ चलने-फिरने वाले निरपराध प्राणी का संकल्प पूर्वक घात नहीं करना, आत्महत्या और गर्भहत्या नहीं करना, तोड़-फोड हत्या का उद्देश्य रखने वाले दल या संस्था का सदस्य नहीं बनना ऐसे कार्यों में भाग नहीं लेना, किसी के साथ क्रूर व्यवहार नहीं करना। किसी कर्मचारी नौकर आदि से अधिक श्रम नहीं लेना, पशुओं पर अधिक भार नहीं लादना, जिस किसी प्राणी की सवारी में यदि अधिक बोझ लदा हो, तो उस सवारी में नहीं बैठना।

इस प्रकार नियम लेना अहिंसा-अणुव्रत है।

सत्य-अणुव्रत—सत्य में निष्ठा और असत्य को त्याज्य छोड़ने योग्य मानना। सम्पूर्ण असत्य छोड़ना शक्य नहीं है तो भी निम्नलिखित असत्य को छोड़ना संभव है।

जानबूझकर असत्य निर्णय नहीं देना, असत्य की साक्षी नहीं देना, असत्य पक्ष का मामला नहीं करना, स्वयं के स्वार्थ या द्वेष के कारण किसी की गुप्त बात प्रकट नहीं करना, जाली हस्ताक्षर नहीं करना, झूठा खत आदि नहीं लिखना, लिखवाना, ऐसे ही मिथ्या विज्ञापन, मिथ्या संवाद, लेख आदि प्रकाशित नहीं करना ये सब सत्य-अणुव्रत हैं।

अचौर्य-अणुव्रत—दूसरों की वस्तु चोरी से नहीं लेना, चोरी का माल नहीं खरीदना, चोर की चोरी करने में सहायता नहीं करना, राज्यनिषिद्ध व्यापार को नहीं करना, किसी चीज में मिलावट नहीं करना, जैसे—दूध में पानी, घी में वेजिटेबिल, आटे में सिंगराज आदि की मिलावट नहीं करना, सौदे में बीच में नहीं खाना, किसी संस्था ट्रस्ट का अधिकारी होकर उसकी धन सम्पत्ति का अपहरण या अपव्यय नहीं करना, बिना टिकिट के रेल आदि में यात्रा नहीं करना ये सब अचौर्य अणुव्रती के लक्षण हैं। अचौर्याणुव्रती को चोर द्वारा चुराई हुई वस्तु को नहीं लेना चाहिए और चोरी करने की प्रेरणा भी नहीं देना चाहिए। नाप तौल में गड़बड़ी नहीं करना चाहिए और श्रेष्ठ वस्तुओं को दिखाकर खराब वस्तुओं को नहीं देना।

ब्रह्मचर्य-अणुव्रत–अपनी पत्नी में ही सन्तोष करना, वेश्या और परस्त्रीगमन का त्याग करना, महीने में 20 दिन ब्रह्मचर्य रखना, विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचर्य पालन, कुसंगति का त्याग इत्यादि ब्रह्मचर्य अणुव्रत कहलाता है।

परिग्रहपरिमाण व्रत–घर, सोना, चाँदी आदि का प्रमाण करना, घूस नहीं लेना, मत (वोट) के लिए रुपया न लेना न देना, लोभवश रोगी के चिकित्सा (इलाज) में अनुचित समय नहीं लगाना, सगाई विवाह के प्रसंग में किसी प्रकार ठहराव-दहेज आदि को लेकर सामने वालों को परेशान नहीं करना, उसकी इज्जत इत्यादि नहीं बिगाड़ना, अपने परिग्रह प्रमाण में संतोष धारण करना परिग्रह-परिमाणव्रत है।

इस प्रकार ये पाँच अणुव्रत हैं, इनके धारक पुरुष को माँस, अण्डा, शराब, शहद इन वस्तुओं का त्याग सर्वथा रहेगा ही, क्योंकि इन चारों चीजों में हिंसा नहीं अपितु महा हिंसा होती है तथा वह व्यक्ति गाँजा, भांग तम्बाकू, जरदा आदि का खाने-पीने, सूंघने का प्रयोग नहीं करता है। हिंसा जन्य वस्त्र तथा शृंगार सम्बन्धी वस्तुओं को ग्रहण नहीं करता है। शराब का व्यापार, ठेका, दुकान नहीं करता, चर्म का व्यापार नहीं करता, जुआ नहीं खेलता, शस्त्र, गोला, बारूद का व्यापार नहीं करता, होली पर गन्दे पदार्थ दूसरे पर डालने का त्याग, अश्लील भद्दा व्यवहार का त्याग करता है। प्रत्येक सदाचारी गृहस्थ को प्रतिदिन इस प्रकार आत्म निरीक्षण एवं चिन्तन करना अत्यन्त कल्याणप्रद है–

क्या मैंने अपने मुख से अपनी बढ़ाई की हैद्यइसलिए इन पाँच अतीचारों से यथासंभव बचकर देशावकाशिक व्रत का पालन करना चाहिए गमनागमनादि के निमित्त से होने वाले हिंसादि पापों से बचने के लिए ही दिग्व्रत और देशव्रत का पालन किया जाता है। यदि स्वयं के गमनागमनादि में जीव हिंसा होती है तो अपने प्रतिनिधि, मुनीम, नौकर चाकर आदि को प्रेषित करने में भी हिंसादिक पापों की प्रवृत्ति होती ही है। सीमा तक स्वयं जाकर पुद्गलक्षेपरूपानुपात, शब्दानुपात करने में भी कार्यगत दोष लगते ही हैं। इसलिए इस व्रत की शुद्धि के लिए इन अतीचारों का त्याग करना चाहिए? किसी का झूठा पक्ष लेकर कलह किया है? अविनय, भूल या

अपराध होने पर क्षमा याचना की या नहीं? किसी अनैतिक कार्य में भाग तो नहीं लिया है? झूठ बोलकर दोष छिपाने की कोशिश तो नहीं की। काम भोग में तीव्र लालसा तो नहीं की। प्रतिदिन वीतराग सर्वज्ञ भगवान् का दर्शन पूजन करना विस्मृत तो नहीं हुआ? बड़े जनों का आदर किया कि नहीं? सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति उपासना में अनादर तो नहीं किया। मेरी आत्मा इन सब कर्मबन्धनों से किस प्रकार मुक्त हो। धन्य हैं वे योगीराज जिन्होंने सब अन्तर्बाह्य परिग्रहों से मुक्त हो मुक्ति की उपासना की है। मेरा भी वैसा दिन कब आयेगा?

श्रावक-दैनिक क्रिया

श्रावकों को प्रतिदिन किस प्रकार नियमित जीवन यापन करना चाहिए इस बात का खुलासा करते हैं–आज मैं तीन बार ही भोज्य पदार्थों को ग्रहण करूँगा, आज मैं पानी और दूध को छोड़कर अन्य पेय पदार्थों का त्याग करता हूँ। आज मैं मात्र पाँच हरी सब्जियाँ खाऊँगा। आज भोजन में मीठा नहीं लूँगा। आज घी का त्याग है। आज पत्ते वाली सभी वनस्पति का त्याग है। आज नमक का त्याग है। भोजन में मात्र दो या तीन अन्न की वस्तुएँ ग्रहण करूँगा।

आज दिन में शयन नहीं करूँगा। रात्रि में मात्र छः घण्टे शयन करूँगा।

आज केवल मोटर की सवारी पर ही बैठूँगा, अन्य सवारी पर नहीं, अथवा किसी भी सवारी पर नहीं बैठूँगा।

आज एक बार ही स्नान करना है। यदि शौचादि की बाधा अधिक होवे तो दूसरी बार स्नान रखेंगे। किन्तु अन्य सजावट आदि हेतु से स्नान द्वारा नहीं करेंगे। आज मेरे सुगन्धित वस्तु लगाने का त्याग है, आज तीन बार ही वस्त्र परिवर्तन करूँगा। आज साबुन लगाने का त्याग है आकर्षक वस्त्र आज नहीं पहनूँगा।

आभूषण नहीं पहनूँगा, आज संगीत अर्थात् बाजे बजाने का त्याग है, तांबूल (पान) का त्याग है। नख पॉलिस लाली का सर्वथा त्याग है, शैंपू आदि हिंसक वृत्ति से बनाये गये शृंगारिक वस्तुओं का मैं हमेशा के लिए त्याग करता-करती हूँ। आज तेल मालिश का त्याग है। दिन रात में तीन बार

दर्पण देखूँगा।

टेलीविजन, वीडियो, वी.सी.आर. सिनेमा को आज नहीं देखना है।

रेडियो के गीत आदि नहीं सुनना है। क्लब आदि विकृत अयोग्य स्थानों पर जाकर मैं कभी भी मनोरंजन नहीं करूँगा, विकृत साहित्य उपन्यास, सत्य कथाएँ, फिल्मी कहानियाँ आदि आज नहीं पढ़ूँगा।

आज सभी बुराईयों से बचूँगा और अच्छाईयों को ग्रहण करूँगा।

समाप्त